भगवान् पार्श्वनाथ

(पूर्वार्द्ध)

लेखक—

बा० कामताप्रसादजी जैन—अलीगंज।

"दिगंबर जैन" का २१ वें वर्षका

उपहार-ग्रन्थ।

नमः श्रीपार्श्वनाथाय ।

भगवान पार्श्वनाथ

(पूर्वार्द्ध)

लेखक—

बा० कामताप्रसादजी जैन एम० आर० ए० एस,

ऑनेरेरी सम्पादक 'वीर' और भगवान महावीर, भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध, सत्यमार्ग, महाराणी चेलनी, संक्षिप्त जैन-इतिहास आदि ग्रन्थोंके रचयिता।

"दिगंबर जैन" के २१वें वर्षमें ग्राहकोंको भेंट।

प्रथमावृत्ति १०००

चैत्र
वीर सं० २४५४
अप्रैल १९२८.

मूल्य-१)

प्रकाशक-

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक 'जैनमित्र' व मालिक दि० जैन
पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत ।

मुद्रक-

मूलचन्द किसनदास कापड़ि
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चक
तासवालाकी पोळ-सूरत ।

निवेदन।

वर्तमान युगमें ऐसा कौन प्राणी होगा जो चतुर्थ-कालीन २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ जैसी महान् आत्मासे अपरिचित हो। उन्हीं भगवानका यह ऐतिहासिक चरित्र आज आप लोगोंके हाथमें है। इस ग्रन्थमें कुल २६ अध्याय हैं, जिनमेंके १२ अध्यायका यह प्रथम भाग दिगम्बर जैनके २१ वें वर्षके ग्राहकोंको उपहारमें दिया जारहा है। बाकीके १४ अध्यायका दूसरा भाग (उत्तरार्द्ध) भी इससे बड़ा इसी प्रकार आगामी वर्षके ग्राहकोंको भेट दिया जायगा। इस प्रकार दो वर्षमें दोवारमें उनके पास (जो दि० जैनके ग्राहक हैं) पूर्ण ग्रन्थ पहुंच जायगा। लेकिन विक्रीके लिए पूरा ग्रन्थ ही प्रगट होगा।

लेखककी इच्छा यही है कि पूरा ग्रन्थ प्रकट होनेसे व उसके आद्योपान्त पढ़नेसे लोग जो अनुभव भगवान पार्श्वनाथके विषयमें प्राप्त करेंगे वह अनुभव आधे भागसे या (अलग २ भागोंसे) मिलना मुश्किल है अतः ऐसा किया गया है।

निवेदक-

मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत

मंगल-विनय !

(शालिनीवृत्त)

वामा-प्यारे हाँ हिए मध्य आके,
वारो सारी श्रृङ्खला ज्ञान लाके;
जागे मेरी बुद्धि गाऊं तुम्हारे-
नीके नीके सद्गुणोंको निहारे !

प्रेमासक्ता इन्द्र चक्राधिसारे,
गाते तेरे हैं गुणोंको अपारे !
कैसे पाऊ पार मैं नाथ गाके-
वौने पाते हाथ कैसे बढ़ाके !!

तो भी स्वामी आपमें प्रेम साने,
बैठा गाने गीत हूं मैं अज्ञाने;
सेवा तेरे पादकी भक्ति धारे,
हे तीर्थेश्वर पार्श्व ! तेरे सहारे !

दाया कीजे हे प्रभो हो दयाला !
दीजे बोधं हे विभो ! हो कृपाला !!
जावे बाधा भाग सारी उदारो !
पाऊं तेरा 'दर्श' भौ-सिन्धु तारो !!

—कामताप्रसाद जैन ।

श्री पार्श्वनाथाय नमः ।

भगवान पार्श्वनाथ ।

(१)

पुरोहित विश्वभूति !

“ जरा मौतकी लघु बहिन, यामें संशै नाहिं ।
तौभी सुहित न चिंतवैं, बड़ी भूल जगमांहिं ॥ ”

विश्वभूति—प्रिये, इस असार संसारमें भ्रमते अनादिकाल होगया! विषयतृष्णाको बुझानेके लिये अनेकानेक प्रयत्न किये! पांचों इन्द्रियोंके विषयसुखमें तल्लीन रहकर युगसे विता दिये! स्वर्गोंके सुख भी भोगे, चक्रवर्तियोंकी अपूर्व सम्पत्तिका भी उपभोग किया! परन्तु इस विषयतृष्णाकी तृप्ति नही हुई! सच्चे सुखका आस्वाद नहीं मिला! इस भव—वनमें भटकते हुए सौभाग्यसे यह मनुष्यजन्म और उत्तम कुल मिल गया; सो भी यूंही इन्हीं विषयवासनाओंको भोगते हुए—भोगोपभोगकी मरीचिकामें पड़े हुये विता दिया! आज यह देख प्रिये! यह सफेद बाल मानो मुझे सचेत करनेको ही नजर आगया है!

अनूदरि—वाह! एक सफेद बालको देखकर प्रिय, क्यों इतने भयभीत होते हो? माना कि संसार असार है—उसमें कुछ भी सार नहीं! लेकिन प्यारे! इसी संसारमें रहकर ही आप अपने उद्देश्यको

पा सकेंगे ! इसलिए इसे असार न समझिये ! इसमें सार है और वह बेशक यही है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थोंका साधन भली भांति करले ! अभी आप पहलेके तीनों पुरुषार्थोंका उपार्जन तो अच्छीतरह कर लीजिये ! फिर भले ही मोक्षके उद्यममें लगिये ! संसारसे डरिये नहीं–डरनेका काम नहीं–कर्तव्यको पहिचानिये और उसमेंके सारको गृहण कीजिये ! बस प्रिय ! अभी अपने इस विचारको जरा रहने दीजिए ।

विश्व०–हां प्रिये ! तेरा कहना तो ठीक है, परन्तु देख, इस शरीरका कुछ भरोसा नहीं ! यह बिजलीकी तरह, पानीके बुदबुदेके समान नष्ट होनेवाला है। आयुकर्म न जाने कब पूर्ण होजावे ! फिर यहां तो यमके दूत यह सफेद बाल आही गए हैं । तिसपर देखो, जैसे तुम कहती हो वैसे ही सही, हमने पहलेके तीन पुरुषार्थोंका साधन प्रायः कर ही लिया है । ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर विद्याध्ययन करते किंचित् धर्मोपार्जन भी कर लिया और गृहस्थाश्रममें तुम सरीखी ज्ञानवान प्रियतमाको पाकर उसका भी पूरा लाभ उठा लिया है । अपने कृपालु महाराज राजा अरविंदकी कृपासे मंत्रिपद पर रहते हुए अर्थ संचय करनेमें भी भाग्य अपने साथ रहा है और फिर कमठ और मरुभूति युवा होही चुके–उनका विवाह भी हो चुका–अबतो बस मोक्षमार्गको साधन करना ही शेष रहा !

अनू०–ठीक है–ठीक है–अब देरी काहेकी । पूरे बाबाजी बन गये हो ! अबतो गृहस्थाश्रममें कुछ करना धरना ही नहीं रहा ! कमठको वरुणा और मरुभूतिको विसुन्दरी दिलादी ! बस चलो छुट्टी हुई ! एक सफेद बाल भी आगया–मानो सौतनका

संदेशा ही ले आया ! मोक्ष–सुंदरी मन वसी है ! अच्छा है, जाओ ! लेकिन उसे पाना कुछ हंसी ठट्ठा नहीं है । इसलिए मैं तो यही कहूंगी कि अभी कुछ दिनों और घरमें रहकर संयमीजीवन व्यतीत करनेका अभ्यास करलो ! जिनदीक्षा ग्रहण करना दुर्द्धर कठिन मार्गमें पग बढ़ाना है, सो विचार लीजिए ।

विश्व०–प्रिये ! मैं देखता हूं, तुम मोहके गहरे भ्रममें पड़ी हुई हो । तुम्हारे ममता भाव मुझे छोड़ना नहीं चाहते ! संसारी जीवकी ऐसी ही भ्रमालु बुद्धि है । इसी कारण वह संसारमें अनेकों दुःख उठाता है । चाहता है, बालूको पेलकर तेल निकालना ! लेकिन क्या यह साध्य है ?

अनु०–नहीं साहब, यह कुछ भी साध्य नहीं है ! सारी दुनिया बेवकूफ है, गार्हस्थ्य जीवनमें रहना बुरा काम है । जाइये, मैं नहीं रोकती–आप बाबाजी बन जाइये और सारी दुनियांको बना लीजिये । मेरी बलासे–तब ही कुछ पतेकी मालूम पड़ेगी ! मेरा कहना तो मूर्खोंका बकवाद समझते हो, पर जब दुनियां जो संसारमें रहकर आनंद उठा रही है आपको टकासा जवाब देदेगी तब होश लाइयेगा !

विश्व०–अरे, इसमें कौनसी बात बुरे माननेकी है । मैं तो खुद कहता जाता हूं कि संसारके लोग भ्रममें पड़े हुये हैं । जैसे कुत्ता हड्डीको चूस २ कर अपने मुंहको लहूलुहान कर लेता है, वैसे ही यह संसारी प्राणी दुनियांकी मौज शौकमें फंसा हुआ अपना सत्यानाश करता है । सुख पानेकी लालसासे खाना पीना मौज उड़ाना आवश्यक समझता है, परन्तु वास्तवमें इस मार्गसे वह कभी भी सच्चे सुखको नहीं पाता ! कुत्तेकी तरह अपनी ही

देहके खूनसे सुखी होना मानता है और फिर अपनी भ्रम बुद्धिपर पछताता है । इसलिये प्रिये, विवेकी पुरुषोंका यही कर्तव्य है कि इस अमूल्य जीवनको सार्थक बनानेके लिये धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका समुचित सेवन कर चुकनेपर—बुढ़ापेका इन्तजार न करके—जब ही संभव हो तब ही निर्वृत्ति मार्गकी शरणमें आकर शाश्वत सुख पानेका उद्यम करें । फिर देखो, मेरे लिये तो यमका दूत आ ही पहुंचा है ! अब भी मैं अगर इस नर देहका उचित उपयोग न करूं, तो मुझसा मूर्ख कौन होगा। अगाध सागरमें रत्न गुमाकर फिर उसे पानेकी मैं कैसे आशा करूं ?

अनु०—हां, साहब, न कीजिये ! लेकिन यह तो बताइये, मेरा क्या कीजियेगा ?

विश्व०—मोहका पर्दा अभीतक तुम्हारी बुद्धिपरसे हटा नहीं है । पर प्यारी, जरा विवेकसे काम लो ! देखो पति-पत्नी एक गृहस्थी रूपी रथके दो पहिये हैं जो रथको बराबर चलने देते हैं ! इन दोनों पहियोंका एकसा और मजबूत होना ठीक है । पुरुषकी तरह स्त्रीको भी ज्ञानवान और आदर्श चरित्र होना दाम्पत्य सुखको सफल बनाना है । सौभाग्यसे हम—तुम दोनों ही इतने सुयोग्य निकले कि गृहस्थीरूपी रथको प्रायः मंजिलपर पहुंचा ही चुके हैं। गृहस्थीकी सबसे बड़ी अभिलाषा यही होती है—न्याय अन्याय मनुष्य सब इसीके लिये करता है कि औलाद हो और मैं उसका बढ़चढ़के विवाह कर दूं, जिससे वंशका नाम चलता रहे । हमारी तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो चुकी है । इसलिये अपने परभवको सुधारना अब हम दोनोंको इष्ट होना चाहिये । मैं तुम्हें इस अव-

स्थामें तकलीफ नहीं दूंगा। तुम्हारी आत्माका हित होगा वही उपाय करूंगा। तुम चाहो तो आनन्दसे पुत्रोंके साथ रहो और धर्म ध्यान करो ! अगर मेरे बिना यह घर फीका जंचने लगे तो दिगंबर गुरुके चरणोंके प्रसादसे आत्मकल्याण करनेका मार्ग ग्रहण करलो ! देखो राजकुमारी राजुलने तो कुमार अवस्थामें ही आर्यिकाके व्रत धारण किये थे और दुद्धर तपश्चरण करके स्त्री लिंग छेदकर स्वर्गोंमें देवोंके अपूर्व सुखोंका उपभोग किया था ! सो अब जैसी तुम्हारी इच्छा हो।

अनूदरि पतिदेवके इन मार्मिक वचनोंको सुनकर चुप होगई ! उसकी बुद्धिमें ऊहापोहात्मक विचारोंकी आंधी आगई ! जान गई कि मनुष्यका नरजन्म सफल बनानेके लिये मोक्षसाधनका उपाय करना परमोपादेय कर्तव्य है ! इसी कारण वह पतिदेवके निश्चयमें और अधिक बाधा डालनेकी हिम्मत न कर सकी।

प्रिय पाठकगण, यह आजसे बहुत पुराने जमानेकी बात है। इतिहास उसके आलोकमें अभी पहुंच नहीं पाया है ! पर है यह इसी भरतक्षेत्रकी बात ! इसी भरतक्षेत्रके आर्यखंडमें सुरम्य देशके मनोहर नगर पोदनपुरमें यह घटना घटित हुई थी। यह पोदनपुर बड़ा ही समृद्धशाली नगर शास्त्रोंमें बतलाया गया है। यहां जैनधर्मकी गति भी विशेष बताई गई है। यहांके राजा परम नीतिवान नृप अरिविंद थे। इन्हीं राजाके वयोवृद्ध मंत्री पुरोहित विश्वभूति था। अनूदरि इनकी पत्नी थी। वृद्धावस्थाको निकट आया जानकर इस विवेकी नर–रत्नने आत्मध्यान करना इष्ट जाना था ! इसी अनुरूप अपनी पत्नीको समझा बुझाकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण करनेकी

ठान ली थी। सच है जिसके मनपर वैराग्यका गहरा और पक्का रंग चढ़ जाता है, उसपर और कोई रंग अपना असर नहीं कर पाता है। भारतका यह पुरातन नियम रहा है कि वृद्धावस्थाको पहुंचते२ ही लोग आत्महितचिन्तनासे वनोवास स्वीकार कर लेते थे। दुनियांकी झंझटोंसे छूटकर—व्याधियोंकी पोटको फेंककर वे स्वावलम्बी धीरवीर पुरुष अकेले ही सर्वत्र सिंहवृत्तिसे विचरते हुये अपना कल्याण करते और अनेकों जीवोंको सुमार्ग पर लगाते थे। भटकते हुओंको रास्ता बतानेवाले वेही थे! दुखियोंके दुःख निवारन करनेवाले और जगतका उपकार करनेवाले वेही महापुरुष थे। देव और दानवकी उपासना एकसाथ नहीं होसक्ती—धर्म और धनका उपार्जन साथही साथ कर लेना असंभव है। इसीलिये आत्महितू और परोपकारी पुरुष सांसारिक मायाकी ममताको पैरोंसे ठुकरा देते और प्राकृतरूपमें सिंहवृत्तिसे नरजन्मके परमोच्च उद्देश्यको सफल बनाते हैं। आज संसारमें ऐसे परमोपकारी महापुरुषोंका प्रायः अभाव है परंतु सौभाग्यसे भारतमें अब भी उंगलियोंपर गिनने लायक ऐसे नररत्न मिलते हैं। बस, इसी आदर्शनियमका पालन करनेका निश्चय राजमंत्री विश्वभूतिने कर लिया था। वह राजा अरविंदके पास पहुंचे और अपने दोनों पुत्रों कमठ और मरुभूतिको उनकी शरणमें छोड़ आये! इसतरह गृहस्थीके उत्तरदायित्वसे निबटकर सुगुरुकी साखिसे वह जिन—चारित्रको पालने लगे। परम उत्तम क्षमाका पालन करते, दुद्धर परीषहोंको सहते, ग्रामग्राममें विचरते वह अपना और परका कल्याण करने लगे। इस लोकमें पूज्य पुरुष होगये! सचमुच निर्वृतिमार्ग ही रंकसे राव बनानेका द्वार है!

(२)

कमठ और मरुभूति !

" जैसी करनी आचरै, तैसो ही फल होय।
इन्द्रायनकी बेलिकै, आंब न लागै कोय ॥ "

कमठ—हाय ! मैं कहां जाऊं; कैसे इस जलते हुए दिलको शांति दिलाऊं ? विसुन्दरीकी बांकी चितवनने गजब ढा दिया है। एक ही निगाहमें मृगनयनी मेरे हृदयके टूक २ कर गई है। न उठते चैन है और न बैठते आराम है, खाना पीना सब हराम है! अबतो उसी सुन्दरीकी याद रह २ कर मारे डाल रही है। क्या करूं मैं उस मनमोहिनी मूरतको कैसे पाऊं ? मेरे कहनेमें वह आती नहीं। जब देखो तब धर्मकी बातें बघारती है। लेकिन कुछ भी हो, मेरा जीवन तो उसके बिना किसी तरह भी टिक नहीं सक्ता। मित्र कलहंस ही शायद इस जलते जीको सान्त्वना दिलानेका कुछ उपाय बतलाये। पर हाय ! उसे मैं कहां ढूंढूं। प्यारी विसुन्दरीकी याद तो मुझे कुछ भी नहीं करने देती ! उसकी भोली भाली सुडौल सुंदर सूरत मेरे नेत्रोंके अगाड़ी हरसमय नाचती रहती है। हाय ! विसुन्दरी !

कलहस—मित्र कमठ ! आज उदास कैसे पड़े हुए हो? तुम्हें अपने तनमनकी कुछ भी सुध-बुध नहीं है। कहो, क्या भांग पी ली है ?

कमठ—अहा कलहंस, खूब आये ! भाई, भांग क्या पी ली—ऐसी भांग पी है जैसी शायद ही कोई पीताहो पर क्या बताऊँ? बताये बिना काम भी तो नहीं चलेगा !

कलहंस–अरे, मालूम पड़ता है किसी व्याधिने आकर आपको घेर लिया है। बस, मुझसे परहेज न कीजिये। अपना हाल निसंकोच हो कहिये; जिससे औषधोपचारकी व्यवस्था की जाय ! मित्रोंका कार्य ही यह है कि वे काम पड़े पर एक दूसरेके काम आवें ! आपकी मुरझानी सूरतने मुझे पहले ही खटकेमें डाल दिया था। कहिये, क्या हाल है ?

कमठ–मुझे शारीरिक व्याधि तो कुछ ऐसी है नहीं और न मानसिक ही ! पर है वह ऐसी ही कुछ। कैसे कहूं सखे, मेरा हृदय तो इंठा जा रहा है।....

कलहंस–आखिर कुछ कहोगे भी–क्या वजह है क्यों हृदयमें ऐंटा पड़ा है ?

कमठ–हां, भाई कहूंगा, तुम्हारे बिना मेरी रक्षाका उपाय और कौन करेगा ? लेकिन तुम्हें करना जरूर होगा।

कलहंस–इसके कहनेकी भी कोई जरूरत है। मित्रताके नाते आपको सुख पहुंचाना मेरा कर्तव्य है। बस, आप अपनी व्याधिका कारण बतलाएं।

कमठ–क्या कहूं कलहंस! कहते हृदय लजाता है पर कामकी व्यथा मुझे इस समय दारुण दुःख दे रही है। प्यारी विसुन्दरीके रूप–सुधाका पान करनेसे ही यह व्यथा दूर होगी।........

कलहंस–छिः छिः तुम्हारी बुद्धि कहां गई है? लघु भ्राताकी पत्नी पुत्रीवत् होती है, उसीपर तुमने अपनी नियत बिगाड़ी है। यह महापाप है। इस दुर्बुद्धिको छोड़ो। कोई सुन पावेगा तो तुम्हारे लिये मुंह दिखानेको स्थान नहीं रहेगा। परदाराका साथ बहुत

बुरा होता है, इसका सेवन करके किसने सुख उठाया है, जो तुम उससे उठाना चाहते हो ? रावणसे महाबली और पराक्रमीको इसी पापने मिट्टीमें मिला दिया। इसलिए मेरा कहना मानो इस दुर्बुद्धिको छोड़ो। अपने कुत्सितभावोंको शोध डालो, उनका समुचित प्रायश्चित ले लो !

कमठ—हाय! हाय! तुम भी मेरी बातको टालनेके लिये बहाने बना रहे हो। धर्मकी आड़ लेकर एक पंथ दो काज साध रहे हो। चाहते हो न मुझसे बिगाड़ हो और न मरुभूतिसे शिष्टाचार टूटे, पर कहीं ऐसा होसक्ता है ? धर्म कर्म सब देख लिए जांयगे, अभी तो जीवनके लाले पड़े हुए हैं। जीवन रहेगा तो धर्म-कर्म सब कुछ कर लूंगा। प्यारे मित्र, जीवन रहे ऐसा उपाय करो। कैसे भी विसुन्दरीको मेरे पास ला दो !

कलहंस—हाय! कामने तुम्हारी बुद्धिको बिल्कुल नष्टकर दिया है। कविका निम्न छंद तुम पर सोलह आने चरितार्थ होरहा है कि:—

"पिता नीर परसै नहीं, दूर रहै रवि यार।
ता अंबुजमें मूढ़ अलि, उरझि मरे अविचार॥
यों ही कुविसनरत पुरुष, होय अवस अविवेक।
हित अनहित सोचै नहीं, हियैं विसनकी टेक॥"

तुम्हें पाप-कर्मका भय नहीं है; कार्य-अकार्यकी सुध नहीं है; लोक लाजकी परवा नहीं है। विषयांध होकर अपनी आत्माका घोर पतन कर रहे हो और चाहते हो उस पापमें मुझे भी शामिल करना। पर सखे, जरा विवेकसे काम लो-होश संभालो ! छोटे भाईकी स्त्रीको भ्रष्ट करके क्या तुम सुखी हो सकोगे ? भाई मरु-

भूति जब तुम्हारी काली करतूतको जानेगा तो कितना दुखी होगा। कितना भोलाभाला, धर्मात्मा और आज्ञाकारी वह तुम्हारा भाई है। फिर राज्यका भी जरा भय करो। यह मत समझो कि तुम्हारे इस दुष्कर्मको कोई जान नहीं पायगा। यह बात नहीं है। राजाके कानोंतक यह खबर पहुंची तो फिर तुम्हारी क्या दशा होगी, यह सोचो। बस, कहना मानो। विसुन्दरीका ध्यान छोड़ो!

कमठके मित्र कलहंसने उसको हर तरहसे समझाया-ऊंच नीच सब कुछ सुझाया पर उसकी समझमें कुछ न आया। सच है जिसका भविष्य दुखद होता है उसको कितना ही कोई सन्मार्गको सुझाए पर यह सब अरण्यरोदनवत होता है। कामीपुरुषको हेयाहेयका कुछ ध्यान नहीं रहता। वह अपने कुत्सित प्रेममें अंधा होजाता है। कमठका भी यही हाल था। कविवर भूधरदासजी भी इस विषयमें यही कहते हैं:-

“यों कलहंस अनेक विध, दई सीख सुखदैन।
ते सब कमठ कुसीलप्रति, भये विफल हितवैन॥
आयुहीन नरकों जथा, औषधि लगै न लेस।
त्योंही रागी पुरुष प्रति, वृथा धरम-उपदेश॥”

मंत्री-पुरोहित विश्वभूतिका ही ज्येष्ठपुत्र यह कमठ था। बचपनसे ही इसका स्वभाव कुटिल रहा था। यह मतिका हेठा था। इसके विपरीत इसका छोटा भाई मरुभूति बिल्कुल सरल-स्वभावी था। एक ही कोखसे जन्मे हुये यह दोनों विष और अमृततुल्य थे, यही एक अनोखी बात है।

राजमंत्री विश्वभूतिके दीक्षा गृहण कर जानेके बाद कमठ

और मरुभूति आनन्दसे रह रहे थे कि अचानक राजा अरविंदने अपने शत्रु राजा वज्रवीरजपर चढ़ाई कर दी थी। दलबल सहित दोनों राजा रणक्षेत्रमें आए और घोर संग्राम होने लगा था। मरभूति भी राजाके साथ रणक्षेत्रमें गया था। इधर कमठकी बन आई। वह निरंकुश हो प्रजाको तरह २ के कष्ट देने लगा। इसी बीचमें उसकी कुदृष्टि मरुभूतिकी स्त्री सती विसुन्दरी पर पड़ गई थी और वह कामातुर हो उसको पानेके उपाय करने लगा था, यह पाठकगण ऊपर पढ़ चुके हैं। अस्तु;

कलहंसने जब देखा कि कमठ विसुन्दरी विना विह्वल होरहा है; तब वह भी न्यायमार्गसे फिसल पड़ा! कुमतिके फंदेमें पड़कर वह धोखेसे कमठके बीमार होनेका बहाना बताकर विसुन्दरीको उसके पास लिवा लाया। बिचारी अज्ञान वनिता इसके प्रपंचको क्या जाने? वह सरल स्वभावसे वहां चली आई। कमठको अब भी लज्जा न आई। पापीने उसके शीलको भंग किया और दुर्गतिमें अपना वास बनाया।

इतनेमें राजा अरविंद अपने शत्रुको परास्त करके सानन्द अपने नगरको लौटे। नगरमें पहुंचनेपर उनको कमठकी सब काली करतूतें मालूम पड़ गईं। सचमुच कमठके पापोंका घड़ा भर गया था–बस, उसके फूटनेकी ही देरी थी। वह भी दिन आ गया। राजाने उसे देशनिकालेका दंड देना निश्चित कर लिया! सरल-स्वाभावी मरुभूतिने भाईके प्रेमसे विह्वल होकर एकवार उसे क्षमा करनेके लिए भी कहा; पर राजाने अनीति मार्गको रोकनेके लिए कमठको दण्ड देना ही निश्चित रक्खा!

राज आज्ञाके अनुसार कमठका काला मुंह करके गधेपर चढ़ाया गया और वह देशसे निकाल दिया गया। कुशीलवान कमठ महा दुःखी हुआ पर उसे अपनी करनीका फल मिल गया। पाप किसकी रियायत करता है? बिलखता हुआ वह भूताचल पर्वतके पास पहुंचा। वहां तापस लोगोंका आश्रम था, हठयोगमें लीन वे लोग अधोमुख लटककर, धुंआ पान करके, ऐसी ही क्रियाओंसे कायक्लेश सहन कर रहे थे। कमठने उनके पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली और वह भी अपनी कायाको तपाने लगा।

इधर बिचारे मरुभूतिको अपने ज्येष्ठ भ्राताकी इस दुर्दशापर बहुत दुःख हुआ और सहसा वह उसको भुला न सका। जब उसे यह मालूम हुआ कि कमठ अमुक तापसोंके निकट तपश्चरण तप रहा है, तब उसने उनके निकट जाना आवश्यक समझा। राजाने कमठके खल स्वभावके कारण उसके पास जानेके लिए मरुभूतिको मना भी किया परन्तु भाईके मोहसे प्रेरा वह वहां पहुंच ही गया। कमठको देखते ही उसका भ्रातृप्रेम उमड़ आया! वह चट उसके पैरोंपर गिर पड़ा और उससे हरतरहसे क्षमायाचना करने लगा। इस सरलताका कमठके वक्र हृदयपर उल्टा ही प्रभाव पड़ा। वह क्रोधमें कांपने लगा और क्रूर कोपके आवेशमें उसने एक शिला उठाकर मरुभूतिके सिरमें दे मारी। मरुभूतिके लिये वह काफी थी। आर्तध्यानने मरुभूतिको आ घेरा। उसके प्राण-पखेरू उस नश्वर शरीरको छोड़ चल बसे। वह अन्त समय खोटे परिणामोंसे मरकर सल्लकी वनमें वज्रघोष नामक वनहाथी हुआ! परिणामोंकी वक्रताके कारण ही उसे पशुयोनिमें जन्म लेना पड़ा!

मनुष्योंके विचारों अथवा परिणामोंका बड़ा गहरा संबंध उनकी भलाई-बुराईसे लगा हुआ है। अच्छे विचार होंगे, तो परिणाम भी अच्छे होंगे और परिणाम अथवा मनके अच्छे होनेपर ही वचन और कार्य अच्छे हो सकेंगे; किन्तु इसके विपरीत बुरे विचारों और परिणामोंसे बुरे कार्य होंगे जिनका फल भी बुरा होगा। इस वैज्ञानिक नियमका ही शिकार बिचारा मरुभूति बन गया ! अन्तिम स्वांसमें उसने हलाहल विष चख लिया, जिससे वह पहले चौकन्ना रहता था। अस्तु;

दूसरी ओर कमठको भी अपने बुरे कार्यका दुष्परिणाम शीघ्र ही चखना पड़ा।

तापसियोंने उसके इस हिंसक कर्मसे चिढ़कर उसे अपने आश्रमसे निकाल बाहर कर दिया। वह दुष्ट वहांसे निकलकर भीलोंमें जाकर मिला और चोरी करनेका पेशा उसने गृहण कर लिया। आखिर इसतरह पापकी पोट बांधकर वह भी मरा और मरकर कुर्कुट सर्प हुआ। उसके बुरे विचार और बुरे कार्य उसकी आत्माको पशुयोनिमें भी बुरी अवस्थामें ले गये। जैसा उसने बोया वैसा पाया।

सचमुच जीवोंको अपने२ कर्मोंका फल भुगतना ही होता है। जो जैसी करनी करता है वैसी ही उसकी गति होती है। मरुभूतिने भी आर्तरूप विचारोंके कारण पशुयोनिके दुःखमें अपनेको पटक लिया। क्रोधके आवेशमें सगे भाइयोंमें गहरी दुश्मनी पड़ गई, जो जन्म जन्मान्तरोंतक न छूटी यह पाठक अगाड़ी देखेंगे ! अतएव क्रोधके वशीभूत होकर प्राणियोंको वैर बांधना उचित नहीं है।

किन्तु पाठकगण, शायद् आप विस्मयमें होंगे कि इन विश्वभूति, मरुभूति, और कमठका सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथसे क्या ? भगवान पार्श्वनाथ तो जैनधर्ममें माने गए चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे तेईसवें तीर्थंकर थे। उनका इन लोगोंसे क्या सरोकार ? किन्तु पाठकगण, धैर्य्य रखिये। जरा ध्यान दीजिये; जितने भी भारतीय दर्शन एवं यूनान आदि देशोंके जो प्राचीन धर्म थे, उनमें परलोक और संसार परिभ्रमण अर्थात् आवागमन सिद्धान्त स्वीकार किया हुआ मिलता हैं। जैनधर्ममें भी इन सिद्धान्तोंको स्वीकार किया गया है। इसी अनुरूप वह प्रत्येक आत्माको संसारमें अनादिकालसे चक्कर लगाते और अपने कर्मोंके अनुसार दुःख सुख भुगतते मानता है। जैन पुराणोमें जिन महापुरुषोंके दिव्य चरित्र वर्णित किये गये हैं; वहां उनके पहलेके भवोंका भी वर्णन दिया हुआ है। इसी तरह जैन पुराणोंमें भगवान पार्श्वनाथके पहलेके नौ भवोंका वर्णन बतलाया गया है। इन नौ भवोंका प्रारंभ मरुभूतिके जीवनसे होता है। मरुभूतिका जीव ही उन्नति करते २ दसवें भवमें भगवान पार्श्वनाथ होजाता है। इस कारण यहांपर मरुभूति और कमठके वर्णनमें हम भगवान पार्श्वनाथके प्रथम भव वर्णनका दिग्दर्शन करते हैं। इन दोनों भाइयोंका संबन्ध अन्त तक एक दूसरेसे इसी तरहका रहेगा। यह परिणामोंकी विचित्रता और कर्मोंके अचूक फलका दृश्य है !

(३)

राजर्षि अरिविंद और वनहस्ति।

"ज्यों माचन-कोदों परभाव, जाय जथारथ दिष्टि स्वभाव।
समझै पुरुष और की और, त्योंही जगजीवनकी दौर ॥"

सल्लकी वनमें घोर हाहाकार मचा हुआ है। कोई किसी ओर भागा जारहा है, कोई किसी ओर झाड़ियोंमें घुसकर प्राण बचा रहा है; और कोई भयके कारण बुरी तरह चिल्ला रहा है। चारों ओर कोलाहल मचा हुआ है, मानो साक्षात् प्रलय ही आनकर उपस्थित होगई है। वह देखो वज्रघोष हाथी, जिसके गण्डस्थलसे मद झर रहा है, मदमाता होकर यहां ठहरे हुए इस यात्री-संघ पर टूट पड़ा है। कुपित हुआ ऐसे त्रास देरहा है कि सबको प्राणोंके लाले पड़े हुये हैं। वह मानो इस संघको यह शिक्षा देरहा है कि 'दूसरेकी जीवनचर्यामें बाधा डालना ठीक नहीं। मैं आनन्दसे अपनी हथनियोंके साथ इस वनमें आनन्दक्रीड़ा किया करता था, तुमने बीचमें आकर यह क्या अडंगा डाल दिया। लो, इसका फल चाखो।' मत्त हाथी रोषवान् हुआ इसतरह बुरीतरह हिंसाकर्म रत होरहा था।

परन्तु जरा नजर बढ़ाइये। यह हाथी अपनी विद्युद्गतिसे क्यों शिथिल होता जारहा है। अरे, यह तो अपनी क्रूरता भी छोड़ता जा रहा है, शांति इसके निकट आती जा रही है। क्या कारण है कि यह यहां इन मौनी साधुके सामने चुपचाप खड़ा होकर एकटक उनकी ओर निहार रहा है? साधु महाराजका दिव्य शरीर है। उनके उरस्थलमें श्रीवत्सका लक्षण सोह रहा है,

तपश्चरणके कारण शरीर कृश हो चुका है; पर आत्मतेजका प्रभाव उनके सुन्दर मुखपर छागया है कि मानो सूर्य ही उग रहा है। वन हस्ती भी इस दिव्य पुरुषके सामने अवाक् होरहा। अपने दुष्कर्मको बिल्कुल ही भूल गया! आत्मतेजका प्रभाव ही ऐसा होता है!

आजकल आत्मवादकी प्रगति प्रायः शिथिल होगई है। इसी कारण लोगोंको आत्माकी अनन्तशक्तिमें बहुत कम विश्वास है। भौतिकवादके झिलमिले प्रकाशने ही उनकी आंखें चुंधिया दीं हैं, परन्तु अब जमाना पलटता जा रहा है। लोग फिरसे आत्मवादके महत्वको समझते जा रहे हैं और आत्माकी अनन्तशक्तिमें विश्वास करने लगे हैं। सचमुच आत्माकी अमोघ अनन्तशक्तिके समक्ष कोई भी कार्य कठिन नहीं है। फिर भला, अगर वनहाथी वज्रघोष मुनिके अलौकिक आत्मरूपके सामने नतमस्तक होजावे तो कौनसे आश्चर्यकी बात है? वह जमाना तो आत्मवादके प्रचंड अभ्युदयका था। मनुष्योंमें ही क्या, बल्कि पशुओं तकमें आत्म प्रभाव अपना असर किये हुए था। इसी कारण पुण्य भावनाओंने वातावरणको विशेष धर्ममय बना दिया था; जिससे उस समयके प्राणी भी हर बातमें आजसे विशेष उन्नतिशाली थे। उनका मानसिक ज्ञान खूब ही बढ़ा चढ़ा था। यहांतक कि पूर्वभवकी स्मृति पशुओं तकको होजाती थी। वज्रघोष हाथीको भी मुनिके उरस्थल पर श्रीवत्सका चिन्ह देखकर अपने पूर्वभवका स्मरण होआया था।

पाठको, यह दिव्य साधु राजा अरविंद ही थे। सल्लकी वनमें यह राजर्षि रूपमें विराजमान थे। मरुभूतिकी मृत्युके उपरान्त यह एक रोज बादलोंकी उथलपथल देख रहे थे, कि देखते ही देखते

उनमेंका एक सुन्दर दृश्य आंखोंसे ओझल होगया। राजाको यह देखकर दुनियांकी सब चीजें अथिर जंचने लगीं। क्षणभंगुर जीवनको आत्म-कल्याणमें लगाना उन्होंने इष्ट जाना। वह परम दिगंबर मुनि होगये। बारह प्रकारका घोर तपश्चरण तपने लगे। आत्मध्यानमें सदैव तल्लीन रहने लगे। उनके ज्ञानकी भी वृद्धि होने लगी। इसी अवस्थामें वे अरविंदराजर्षि श्री सम्मेदशिखरजीकी वंदना हेतु संघ सहित जारहे थे, सो सल्लकी वनमें आकर ठहरे हुये थे। इसी समय उस मरुभूतिके जीव हाथीने इनपर आक्रमण किया था।

जिसका भला होना होता है, उसको वैसा ही समागम मिलता है। बिल्लीके भाग्यसे छींका टूट पड़ता है। वज्रघोष हाथीके सुदिन थे कि उसे इन पूज्य राजर्षिके दर्शन होगए। हाथी विनयवान होकर इनके समक्ष खड़ा होगया। अपने पूर्वभवका सम्बन्ध याद करते ही उसने अपना शीश राजर्षिके चरणोंमें नवां दिया! सबका हित चाहनेवाले उन राजर्षिने इसकी आत्माके कल्याण हेतु उत्तम उपदेश दिया-बतलाया कि हिंसा करने-दूसरेके प्राणोंको तकलीफ पहुंचानेसे दुर्गतिका वास मिलता है, क्योंकि हिंसा जीवोंको दुःखकारक है। कोई भी जीव तकलीफ नहीं उठाना चाहता, इसलिए दूसरोंको कष्ट पहुंचानेके लिए पहले स्वयं अपने आप तकलीफ उठानी पड़ती है। फिर कहीं उसका अनिष्ट हो पाता है। इसकारण यह हिंसा पापका घर है। इसका त्याग करना ही श्रेष्ठजनोंका कार्य है। क्रोधके वशीभूत होकर वन-हस्तीने अनेकों जीवोंके प्राणोंको कष्ट पहुंचाकर वृथा ही अघकी पोट अपने सिरपर धरली! इसी हिंसाकृत्य, आर्तभाव, अपनी आत्माको हननेके कारण यही

मरुभूति ब्राह्मण पशुकी योनिमें आन पड़ा ।

राजर्षिके मार्मिक उपदेशने हाथीके हृदयको पलट दिया । पशु पर्यायके दुःखोंसे छूटनेके लिए उसने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रतोंको धारण कर लिया । धर्म भावना उसके हृदयमें जागृत हो गई । राजर्षि तो अपने मार्ग गए और वह हस्ती धर्मध्यानमें दिन बिताने लगा। एक पशुके ऐसे धर्मकार्यपर अवश्य ही जीको सहसा विश्वास नहीं होता; किन्तु इसमें अचरज करनेकी कोई बात नहीं है । पशुओंमें भी बुद्धि होती है । वह स्वभावतः आवश्यक्ताके अनुसार यथोचित मात्रामें प्रगट होती है । उनके प्रति यदि प्रेमका व्यवहार किया जाय और उनकी पशुताको दूर करके उनकी बुद्धिको जागृत कर दिया जाय, तो वह अवश्य ऐसे२ कार्य करने लगेंगे कि जिनको देखकर आश्चर्य होगा । आज भी ऐसे२ शिक्षित बैल और बकरे देखे गए हैं कि जो अपने खुरोंसे गुणा करके खास आदमियोंके जेबोंमें रक्खे हुए रुपयोंकी संख्या बता देते हैं और जिस किसीने कोई चीज चुराई हो तो उसके पास जाकर खड़े होजाते हैं । सरकसोंके खेलोंको सब कोई जानता है, साधारणतः कुत्तोंकी स्वामिभक्ति, किसी चीजका पता लगानेकी बुद्धि और सिखानेपर मनुष्योंकी सहायता करनेके प्रयत्न प्रतिदिन देखे जाते हैं। ये ऐसे उदाहरण हैं जो हमें पशुओंद्वारा उस मनोवृत्तिको प्राप्त करनेकी बातपर विश्वास करनेके लिए बाध्य करते हैं, जिससे हाथी आदि पंचेन्द्रि सैनी जीव धर्माराधन करनेकी योग्यता पा लेते हैं । अस्तु,

हाथी विविध रीतिसे धर्मका अभ्यास करने लगा । त्रस जीवोंकी वह भूल कर भी विराधना नहीं करता था । समताभावके

हृदयमें रखकर वह इन्द्रियोंका निग्रह करने लगा। यहांतक कि गिरे हुये सूखे पत्तों आदिको खाकर पेट भरने लगा और धूपसे तपे हुये प्रासुक जलको घोकर प्यास बुझाने लगा। जिन हथिनियोंके पीछे वह मतवाला बना फिरता था, उनकी तरफ अब वह निहारता भी नहीं था। हरतरहके कष्ट चुपचाप सहन करलेता था—दुर्ध्यानको कभी पास फटकने नहीं देता था। इसप्रकार संयमी जीवन व्यतीत करता वह कृषतन होगया। पंचमपरमेष्ठीका ध्यान वह निशिवासर करता रहा। एक रोज हत्भाग्यसे क्या हुआ कि वह वेगवती नदीमें पानी पीने गया था, वहांपर दलदलमें फंस गया। बाहर निकलना बिल्कुल मुहाल होगया। इस तरह असमर्थता निहारकर हाथीने सन्यास ग्रहण करना उचित समझा। वह समाधि धारणकर वहां वैसाका वैसा ही स्थित खड़ा रहा। प्रबल पुण्यप्रकृतिके प्रभावसे निपट दुर्बुद्धियोंको भी सन्मार्गके दर्शन होजाते हैं और वह उसपर चलनेमें हर्ष मनाते हैं, इसमें आश्चर्य करनेकी कुछ बात नहीं!

हाथी बिचारा सन्यास साधन किये हुये वहां खड़ा ही था, कि इतनेमें पूर्वभवके कमठका जीव, जो मरकर इसी वनमें कुर्कुट हुआ था, इधर आ निकला। हाथिको देखते ही उसे अपने पहले जन्मकी बातें याद आगई। क्रोधसे वह तिलमिला गया। झटसे उसने मरुभूतिके जीव उस संयमी हाथीको डस लिया! शुभभावोंसे देह त्यागकर भगवान पार्श्वनाथके दूसरे भवका जीव यह हाथी सहस्रार नामक बारहवें स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिको [illegible]ण करनेवाला देव हुआ। और कमठका जीव—यह सर्प मरकर पापोंके कारण पांचवे नर्कमें पहुंचा! यहां अपनी २ करनीका फल प्रत्यक्ष है।

जैनशास्त्रोंमें तीर्थंकर पद मनुष्य भवका सर्वोच्च दर्जा माना गया है और उसका अधिकारी हरएक प्राणी होसक्ता है, यदि वह वहां बताये गये नियमोंका पूर्ण पालन अपने जन्मान्तरोंमें करले। वह नियम इस तरह बताए गए हैं:—

(१) दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शन, आत्मश्रद्धानकी विशुद्धता प्राप्त करना।

(२) विनयसम्पन्नता-मुक्ति प्राप्तिके साधनों अर्थात् रत्नत्रयके प्रति और उनके प्रति जो उसका अभ्यास कररहे हैं विनय करना।

(३) शील व्रतेष्वनतिचार—अतीचाररहित अर्थात् निर्दोष रूपसे पांच व्रतोंका पालन और कषायोंका पूर्ण दमन करना।

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—सम्यग्ज्ञानकी संलग्नतामें—स्वाध्यायमें अविरत दत्तचित्त रहना।

(५) संवेग—संसारसे विरक्तता और धर्मसे प्रेम रखना।

(६) शक्तितस्त्याग—यथाशक्ति त्यागभावका अभ्यास करना।

(७) शक्तितस्तप—शक्ति परिमाण तपको धारण करना।

(८) साधुसमाधि—साधुओंकी सेवासुश्रूषा और रक्षा करना।

(९) वैयावृत्य करना—सर्व प्राणियों खासकर धर्मात्माओंकी वैयावृत्य करना।

(१०) अर्हद्भक्ति-अर्हत् भगवानकी भक्ति करना।

(११) आचार्यभक्ति—आचार्य परमेष्ठीकी उपासना करना।

(१२) बहुश्रुतभक्ति—उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करना।

(१३) प्रवचनभक्ति—शास्त्रोंकी विनय करना।

(१४) आवश्यकापरिहाणि—षडावश्यकोंके पालनमें शिथिल न होना।

(१५) मार्गप्रभावना—मोक्षमार्ग अर्थात् जैनधर्मकी प्रभावना करना; और

(१६) प्रवचनवत्सलत्व—मोक्षमार्गरत साधर्मी भाइयोंके प्रति वात्सल्यभाव रखना।

इन्हीं सोलह नियमोंका पूर्ण पालन मरुभूतिकी आत्माने अपने नौ जन्मान्तरोंमें करलिया था; जिसके ही प्रभावसे वह परमोच्च तीर्थंकरपदको पहुंचा था—साक्षात् परमात्मा भगवान पार्श्वनाथ हुआ था। बात यह है कि इसलोकमें एक सूक्ष्म पुद्गल वर्गणायें भरी पड़ीं हैं, जो जीवात्माके शुभाशुभ मन, वचन, काय क्रियाके अनुसार उसमें आकर्षित होती रहती हैं। जीवात्माका सम्बन्ध इस पुद्गलसे अनादिकालसे है और वह निरंतर मन, वचन, कायकी शुभाशुभ क्रियाके अनुसार बढ़ता रहता है। उस समयतक यह क्रम जारी रहता है जबतक जीवात्मा जो स्वभावमें चैतन्यमई है, इस पौद्गलिक सम्बन्धसे अपना पीछा नहीं छुड़ा लेता है। इस सनातन नियमका खुलासा परिचय पाठकगण अगाड़ी पायेंगे, परन्तु यहांपर यह ध्यानमें रख लेना उचित है कि इसी नियमके बल मरुभूतिका जीव अपने अशुभ मन, वचन, काय योगके परिणाम स्वरूप दुर्गतिमें गया और पशु हुआ था किंतु उसी अवस्थासे धर्मका आराधन जन्मान्तरोंमें करते रहनेसे वह उत्तरोत्तर उन्नति करता गया और आखिर वह इस योग्य बन गया कि पौद्गलिक संसर्गका बिल्कुल अन्त कर सका! इससे कर्मसिद्धान्तका प्रभाव स्पष्ट होजाता है। अस्तु।

सहस्रार स्वर्गके स्वयंप्रभ विमानमें मरुभूतिका जीव जो आगामी चलकर जगतपूज्य २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथजी हुआ था, वह

शशिप्रभ नामक देव हुआ। अवधिज्ञानके बल उस देवने अपने पूर्व भवमें किये गये व्रतोंका माहात्म्य जान लिया। सो यहां भी वह खूब ही मन लगाकर भगवद्भजन करने लगा। महामेरु, नंदीसुर आदि पूज्यस्थानोंमें जाकर वह बड़े भावसे जिन भगवानकी पूजन-अर्चन करता था। सोलहसागर तक वह स्वर्गोंके सुखोंका उपभोग करता हुआ विशेष रीतिसे पुण्य संचय करता रहा। अंतमें वहांसे चयकर वह देव जंबूद्वीप पूर्व विदेहके पुष्कलावती देशके उन्नतशैल विजयार्धपर बसे हुये विशाल नगर लोकोत्तमपुरके राजा भूपाल और रानी विद्युतमालाके अग्निवेग नामक सुन्दर राजकुमार हुआ।

राजकुमार अग्निवेग बड़ा ही सौभाग्यशाली, सोमप्रकृति, प्रवीण और सकल शुभ लक्षणोंका धारी था। पूर्वसंयोगसे इस भवमें भी उसकी भक्ति श्री देवाधिदेव जिनदेवके चरणोंमें कम नहीं हुई थी। पुण्यात्मा जीवोंको धर्म हरजगह सहाई होता है। राजकुमार अग्निवेग सबके लिए सुखका ही कारण थे। युवा होनेपर इन्होंने राज्यसंपदाका उपभोग किया। एकरोज इनका समागम एक स्वपरहितकारी साधु महाराजसे होगया। इन्होंने उनकी विशेष भक्ति की और उनका उपदेश सुनकर इनके हृदयमें वैराग्यकी लहर उमड़ आई—यह मुनि होगये!

राजर्षि अग्निवेग तिलतुष मात्र परिग्रहतकका त्याग करके परम तपोंको तप रहे थे कि अचानक पूर्वसंयोंगसे अपने मरुभूतिके पूर्वभवमें बांधे हुये वैरके कारण कमठका जीव नर्कसे निकल करके जो फिर अजगर सर्प हुआ था, इनके पास आ धमका! हिमगिर गुफामें अवस्थित इन धीरवीर मुनिराजको इसने फिर डस लिया।

इस तरह इनका यह चौथा भव भी आपसी वैरका बदला चुकानेसे खाली न गया ! मुनिराजने समभावसे प्राण विसर्जन किये, इस लिये वह तो सोलहवें स्वर्गमें पहलेसे भी ज्यादा भोगोंके अधिकारी हुये, और कमठका जीव वह अजगर पापदोषके वशीभूत होकर छठे नर्कमें जाकर पड़ा, जहां दारुण दुःख भुगतने पड़ते हैं। तीव्र वैर बांधनेके परिणामसे उसे वारम्वार घोर यातनाओंका कष्ट सहन करना पड़ता रहा ! सचमुच क्रूर परिणामोंकी तीव्रता भव भवमें दुखदाई है ! जीवका यदि कोई सहाई और सुखकारी है तो वह एक धर्म ही है। कवि भी उसके पालन करनेका उपदेश देते हैं:—

"आदि अन्त जिस धर्मसौं सुखी होयं सब जीव।
ताकौं तन मन वचन करि, रे नर सेव सदीव॥"

---

(४)

चक्रवर्ती वज्रनाभि और कुरंग भील !

"बीज राखि फल भोगवैं, ज्यों किसान जग मांहि।
सों चक्री नृप सुख करें, धर्म बिसारै नांहि॥"

आजकलके लोगोंको संसारके एक कोनेका भी पूरा ज्ञान नहीं है। पाश्चात्य देशोंके अन्वेषकों और विद्यावारिधियोंने जिन स्थानों और जिन बातोंकी खोज कर ली है, वह अभी न कुछके बराबर हैं। नित नये प्रदेश और नई २ बातें लोगोंके अगाड़ी आती हैं। परन्तु भारतके पूर्व इतिहासको देखते हुये हम उनमें कुछ भी नवीनता नहीं पाते हैं। भौगोलिक सिद्धान्तोंमें भी अब पश्चिम भारतके सिद्धान्तोंको माननेके लिये तैयार होता जारहा है। ऐसे

ऐसे विद्वान् भी अगाड़ी आ रहे हैं जो सप्रमाण पृथ्वीको स्थिर बतलाने लगे हैं। सारांश यह कि इस जमानेमें जो उन्नति हुई है, वह अपनी पराकाष्ठाको नहीं पहुंची है। बल्कि जैन ग्रंथोंके वर्णनको ध्यानमें रखकर हम कह सक्ते हैं कि अभी सेरमें पौनी भी नहीं कती है। अतएव उन्नतिकी इस नन्हीं अवस्थामें यदि पहिले जैसी बातों और देशोंका पता हमें न चले और हम उन्हें अचंभे जैसा मान लें, तो उसमें विस्मय ही कौनसा है? यह हमारी संकुचित बुद्धिका ही दोष है! अस्तु; यहांपर इस कथामें विस्मय करनेकी कोई आवश्यक्ता नहीं है।

मरुभूतिका जीव जो अच्युत स्वर्गमें देव हुआ था, वह वहां अपने सुखी दिन प्रायः पूरे कर चुका! पाठकगण उसके लिये स्वर्गसुखोंको छोड़ना अनिवार्य होगया। वहांसे चयकर वह वज्रवीर नामक भूपालके यहां बड़ा भाग्यवान पुत्र हुआ! यह राजा पद्मदेशके अस्वपुर नगरके अधिपति थे। जम्बूद्वीपके मध्यभागमें अवस्थित मेरु पर्वतके पश्चिम भागमें एक अपरविदेह नामक क्षेत्र बताया गया है। यह बड़ा ही पुण्यशाली क्षेत्र है। यहांके जीवोंके लिये मोक्षका द्वार सदा ही खुला रहता है। यहां जैन मुनियोंका प्रभाव चहुंओर फैला मिलता है। अहिंसा धर्मकी शरणमें सब ही जीव आनन्दसे काल यापन करते हैं। इसी क्षेत्रमें अस्वपुर नगर था।

राजा वज्रवीर बड़े नीतिनिपुण जिनराजभक्त राजा थे। इनकी पटरानी विजया बड़ी ही सुलक्षणा और सुकुमारी थी। एकदा पुर्वपून्यवशात् रानीने सोते हुये रातके पिछले पहरमें पांच शुभ स्वप्न देखे। पहले मेरुपर्वत देखा; फिर क्रमसे सूर्य, चंद्र, विमान

और सजल सरोवर देखे। प्रातः होते ही वह अपने प्रियतम राजा वज्रवीरके पास पहुंची और बड़ी विनयसे रातके स्वप्नोंका सब हाल उनसे कह सुनाया। राजा इन स्वप्नोंका हाल सुनकर बहुत खुश हुआ। उसने रानीसे कहा कि तेरे एक प्रधान पुत्र होगा। स्वप्नोंका यह उत्तम फल सुनकर रानीको भी बड़ा हर्ष हुआ। नियत समय पर भाग्यवान पुत्रका जन्म हुआ; जिसका नाम इन्होंने वज्रनाभि रक्खा और यह जीव अच्युत स्वर्गका देव ही था। यह भगवान पार्श्वनाथका छट्ठा पूर्वभव समझना चाहिए।

क्रमकर राजपुत्र वज्रनाभि युवावस्थाको प्राप्त हुये। इस अवस्थाको पहुंचते २ इन्होंने शस्त्र–शास्त्र आदि विद्याओंमें पूर्ण निपुणता प्राप्त कर ली थी। आजकलके रईसोंकी भांति इनके पिताने इनका बालपनमें विवाह करके ही इन्हें विद्या और स्वास्थ्य-हीन नहीं बना दिया था बल्कि यह जब सब तरहसे निष्णात होगये थे; तब इनका विवाह संस्कार राजाने कराया था। विवाह होनेपर यह अपनी सुन्दर रानियोंके साथ मनमाने भोग भोगने लगे। अन्तमें राज्यभार इनको प्राप्त हुआ और यह बड़ी कुशलता पूर्वक राज्यप्रबंध करने लगे थे।

वज्रनाभि नीतिपूर्वक राज्य कर रहे थे, कि इनको समाचार मिले कि राजाके आयुधगृहमें चक्ररत्न उत्पन्न होगया है। यह सुनकर इनको बड़ा हर्ष हुआ और यह छहों खंड पृथ्वीको विजय करके धर्मराज्य स्थापित करनेके लिये घरसे निकल पड़े। लोकके प्राणियोंकी हित चिन्तनासे वह व्यग्र हो उठे और धर्मचक्रका माहात्म्य वह चहुंओर फैलाने लगे। जैनशास्त्रोंके अनुसार चक्र-

वर्तियोंके लिये अपूर्व सामिग्रीका प्राप्त करना और सार्वभौमिक सम्राट् होना अनिवार्य है इसी अनुरूप राजा वज्रनाभि भी छह खंडकी विजय करके चक्रवर्ती पदको प्राप्त हुये। सार्वभौमिक सम्राट् होगए। प्रबल पुण्यसे अटूट सम्पदा और भोगोपभोगकी सामिग्रीका समागम इनको हुआ था। जिन राजाओंको इनने परास्त किया था, प्रायः उन सबने ही इनकी बहुत कुछ नजर भेंट की थी तथा अपनी सुकुमारी कन्याओंका पाणिग्रहण भी इनके साथ कर दिया था। इन राजाओंमें बत्तीस हजार म्लेच्छ राजा भी थे। इनकी कन्यायोंके साथ भी राजा वज्रनाभिने विवाह किया था। उस समय विवाह सम्बंध करना एक नियत परिधिमें संकुचित नहीं था बल्कि वह बहुत ही विस्तृत था। यहां तक कि उच्चकुली मनुष्योंके लिए शूद्र और म्लेच्छों तकमें विवाह सम्बंध करना मना नहीं था, जैसे कि सम्राट् वज्रनाभिके उदाहरणसे प्रकट है।

इस तरह सार्वभौमिक सम्राट्पदको पाकर राजा वज्रनाभि सानन्द राज्य कर रहे थे। वह अपने विस्तृत राज्यकी समुचित रीतिसे व्यवस्था रखते थे; परन्तु इतना होते हुए भी वह अपने धर्मको नहीं भूले हुये थे। अर्थ और कामकी वेदीपर धर्मकी बलि नहीं चढ़ा चुके थे, जैसे कि आजकल होरहा है। योंही सुखसागरमें रमण करते हुए सम्राट् वज्रनाभि कालयापन कर रहे थे, कि एक रोज शुभ कर्मके संयोगसे क्षेमंकर नामक मुनि महाराजका समागम हो गया। भक्तिभावसे सम्राट्ने उनकी वन्दना की और मन लगाकर उनका सर्व हितकारी उपदेश सुना। मुनि महाराजका उपदेश इतना मार्मिक था कि उसने वज्रनाभि सम्राट्का हृदय फेर दिया। वह

अपने विशद साम्राज्य और अतुल संपदाको कौड़ीके मोल बराबर समझने लगे। छयानवे हजार सुन्दरसे सुन्दर रानियां भी उनके दिलको अपनी ओर आकर्षित न कर सकीं। पूरा वैराग्य उनके दिलमें छा गया, सारा संसार उनको असार दीखने लगा। राजभोग भोगते जहां सार ही सार नजर आता था, वहां अब उन्हें कुछ भी सार न दिखाई पड़ता था। लौ लगी थी शाश्वत सुख पानेकी इसलिए उनकी भ्रमबुद्धि उसी तरह भाग गई जिस तरह सूरजके निकलते ही अंधकार भाग जाता है। वस्तुओंका असली स्वरूप उनकी नजरमें आ गया। वे विचारने लगे:—

'इस संसार महावन भीतर, भ्रमते ओर न आवे।
जामन मरन जरा दों दाझ्यो, जीव महादुख पावे॥
कब ही जाय नरकथिति भुंजै, छेदन भेदन भारी।
कब ही पशु परजाय धरै तहँ, वध बंधन भयकारी॥
सुरगतिमें पर संपति देखै, राग उदय दुख होई।
मानुष जोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहीं होई॥"
"मोह उदय यह जीव अग्यानी, भोग भले कर जानै।
ज्यों कोई जन खाय धतूरो, सो सब कंचन मानै॥
मैं चक्री पद पाय निरंतर, भोगे भोग घनेरे।
तोभी तनिक भये नहीं पूरन, भोग मनोरथ मेरे॥
सम्यग्दरसन ग्यान चरन तप, ये जियके हितकारी।
ये ही सार, असार और सब, यह चक्री चित धारी॥"—पार्श्वपुराण

चितमें दृढ़ता धारण करके सम्राट्‌ने अपने पुत्रको राज्य भार सौंपा और आप अनेक राजाओंके साथ निःशल्य होकर मुनि हो गये। गुरु चरणोंके निकट जैनमुनिके पंच व्रतोंको धारण कर लिया। अपनी अलौकिक विभूतिका जरा भी मोह नहीं किया। कानी

कौड़ीकी तरह उसे निःसंकोच भावसे पैरोंसे ठुकरा दिया और घोर तपश्चरण करने लगे। सदा आत्मध्यानमें लीन रहने लगे। अपने मनुष्य जन्मको सफल बनाने लगे।

एक रोज राजर्षि वज्रनाभि कायोत्सर्ग एक वनमें बिराजमान थे, कि इनके पूर्वभवका वैरी कमठका जीव वहां आपहुंचा। कमठका जीव अजगर जो मरकर छठे नर्कमें गया था वह वहांसे निकल कर किसी पुण्य संयोगसे नर जन्ममें तो आया; पर कुरंग नामक हिंसक भील हुआ। सचमुच जीवोंके किये हुये शुभाशुभ कर्म अपना प्रभाव स्वतः ही उचित समय पर दिखाते हैं। भगवान पार्श्वनाथजीके इन पूर्वभवोंके वर्णनसे कर्मके विचित्र परिणामका खासा दिग्दर्शन होजाता है। वैर-बंधके कारण यह कुरंग भील राजर्षिको देखते ही आगबबूला होगया। राजर्षि तो शत्रुमित्रमें समभावको धारण किए हुए थे। उनके निकट उसके कोपका कुछ भी प्रभाव नहीं था; परन्तु यह नीच काहेको माननेवाला था। धनुष-बाण हाथमें लिये हुये था। चटसे बाण धनुषपर चढ़ा लिया और भर-ताकत खींचकर योगासीन मुनिराजके मार दिया! मुनिराजने इस दुःखदशामें भी धर्मध्यानको त्यागा नहीं! बल्कि उपसर्ग आया जानकार उनने विशेष रीतिसे आत्मसमाधिमें दृष्टिको लीन कर दिया। इस उत्तम दशामें उनके प्राणपखेरू निकलकर मध्यम ग्रैवेयक विमानमें पहुंचे। वहां वे अहमिन्द्र हुये और विशेष रीतिसे आनन्दसुख भोगने लगे।

पहले वहां पहुंचकर उत्पाद सेजसे उठते ही वह भ्रममें पड़ गए कि यहां मैं कैसे आगया? यह कौन स्थान है? इतनेमें ही

अपने अवधिज्ञानके बलसे अपने पूर्वभवका सब संबंध जान लिया! पुण्य प्रभावका यह प्रत्यक्ष उदाहरण देखकर वह फिर भी जिनेन्द्र भगवानकी पूजन अर्चनामें तल्लीन होगया! यहां उत्पन्न होनेके कुछ काल बाद ही वह यौवन अवस्थाको प्राप्त होगया और आनंदसे अनेक तीर्थोंमें जाजाकर जिनेन्द्र भगवानकी वन्दना, स्तुति आदि बड़े भावोंसे करने लगा। धर्मतरुको खूब अच्छी तरह सींचने लगा।

इधर वह भील हिंसाकर्ममें रत रहा, मुनिराजकी हत्या करने सदृश महापापके वशीभूत हो वह रुद्रध्यानसे मरा और मरकर सर्व अंतिम नर्कमें जाकर पड़ा। वहांपर वह नानाप्रकारके अनेकानेक महा दुःख भुगतने लगा-अधर्मका कटुफल उसे यहां चखना पड़ा। सचमुच इंद्रियोंके आधीन हुआ जीव वृथा ही दुःखी होता है। विषयलम्पटी कमठ अपने घोर पापकी बदौलत बराबर दुःख ही उठाता फिरा! अतएवः—

"धिकधिक विषयकषायमल, ये बैरी जगमांहि।
ये ही मोहित जीवकौं, अवसि नरक लै जांहि॥
धर्म पदारथ धन्य जग, जा पटतर कछु नांहि।
दुर्गतिवास बचायकै, धरै सुरग शिव मांहि॥"

---

(५)

आनन्दकुमार।

"जिनपूजाकी भावना, सब दुखहरन उपाय।
करते जो फल संपजै, सो वरन्यौ किम जाय॥"

बसन्त ऋतु अपनी मनमोहक मुस्कान चारोतरफ छोड़ रही थी। वनलतायें और दिशा-विदिशायें फूले अंग नहीं समातीं थीं।

सुन्दर सुहावना समय था। कामीजनोंके लिये मानो अनङ्गराजने केलिके लिए साक्षात् नन्दनवन ही इस भूतलपर रच दिया था। परन्तु धर्मात्मा सज्जन इस समय भी पुण्योपार्जन करना नहीं भूले थे। नंदीश्वर व्रतका महोत्सव बड़े उत्साहसे इन दिनों किया जाता है।

कौशलदेशके अयोध्या सदृश उत्तम नगरमें इक्ष्वाकुवंशी महाराज वज्रबाहु राज्याधिकारी थे। प्रभाकरी नामकी इनके शीलगुणभरी रानी थी। दोनों ही राजपुरुष जैनधर्मके दृढ़ श्रद्धानी थे। मरुभूतिका जीव अहिमंद्र ग्रैवेयिकसे चयकर इन्हीं राजदम्पतिके यहां सर्वसुखकारी आनन्दकुमार नामक राजकुमार हुआ था। युवा होनेपर इस सुन्दर राजकुमारका अनेक राजकन्याओंके साथ विवाह हुआ था और फिर यह अपने पिताके पदको प्राप्त हुआ था!

जैन शास्त्रोंमें राजाओंके आठ भेद बतलाये हैं; अर्थात् पहले जमानेमें आठ प्रकारके राजा होते थे, यह जैन शास्त्रोंके वर्णनसे प्रकट है। उनमें बतलाया है कि जो कोटिग्रामका अधिपति होता है वह राजा कहलाता है। पांचसौ राजा जिसको शीश नमावें वह अधिराजा बतलाया गया है। तथापि एक हजार राजा जिसकी आन माने वह राजा महाराजा कहलाता है। दो हजार नृप जिसके आधीन हों उसे अर्ध मण्डलीक समझना चाहिये और चार हजार राजा जिसकी शरण आवें वह राजा मंडलीक कहलाता है। आठ हजार भूप जिसकी आज्ञाको शिर धरते हों, वह नृप महामंडलीक माना जाता है। सोलह हजार राजाओंको अपने आधीन रखनेवाला राजा अर्धचक्री बतलाया गया है और बत्तीस हजार राजा जिसका लोहा मानते हों वह चक्रवर्ती राजा कहलाता है। इनमेंसे महामंड-

लीक पद पर राजा आनन्दकुमार आसीन थे ।

इसतरह महामंडलीक राजा आनन्दकुमार आनंदसे काल-यापन कर रहे थे कि बसंतोत्सवका समागम हुआ । राजमंत्री स्वामिहितने अपने विवेकभरे बचनोंसे राजाका मन वनक्रीड़ा करनेके स्थानपर जिनभवनमें नंन्दीश्वर विधानका परम उत्सव करनेकी ओर फेर दिया ! बड़े उत्साहसे पूजन होने लगा । राजा भी बड़े हर्षसे जिनेन्द्रभगवानकी पूजा करनेके लिये वहां पहुंचा और बड़े भक्तिभाव और शांत चित्तसे उसने भगवानकी पूजा की । आकुलताका नाम नहीं–धीरजसे विधिपूर्वक पूजा हुई । राजाका मन-रूपी भ्रमर जिनराजके पादकमलोंमें मुग्ध होगया । भक्तवत्सल जीव जिनेन्द्रप्रभुके समक्ष अपने द्वैतभावको भूलकर एकमेक होजाते हैं । जिनेन्द्रपूजामें स्वामी और चाकरका सम्बध नहीं है । वहां जो पूजक है सो पूज्य है, यही भाव प्रधान रहता है। न याचना है–न प्रार्थना है– निशंक हृदयसे प्रभुके आत्मीक गुणोंमें "अरे; जो वे हैं सो मैं हूं" की ध्वनिमें लीन होजाना है यही जैनपूजा है ।

राजा भी ऐसी पूजा करनेको उद्यमशील हुआ था; परन्तु उसके हृदयमें संशय उठ खड़ा हुआ ! सौभाग्यसे विपुलमती नामक मुनिराज भी वहां वंदनार्थ आए थे. उनके निकट जाकर राजाने अपने संशयका समाधान करना चाहा । शंकाकी निवृत्ति करना ही उत्तम है-उसको दबाना सम्यक्त्वमें बट्टा लगाना है--सच्चे श्रद्धानको मलिन करना है । स्वतंत्र विचारों द्वारा प्रत्येक विषयका स्पष्टीकरण करना श्रद्धानको निर्मल और गाढ़ बनाना है। स्वतंत्र विचारोंसे डरनेकी कोई बात नहीं–स्वाधीन रीतिसे तात्विक चर्चा करना परम

उपादेय है। उसको मेटना अश्रद्धानको जन्म देना है। अज्ञानांधकारको मेटनेके लिए विवेकमयी स्वतंत्र विचाररूपी सूर्य ही सामर्थ्यवान है। राजा आनन्दकुमारने स्वतंत्ररीतिसे विचार किया कि पाषाणकी मूर्ति किस तरह हमें पुण्यकी प्राप्ति करा सक्ती है? इसीसे उनको इस बातका अवसर मिला कि वह देवपूजाका सच्चा स्वरूप मुनिराजसे जानकर अपने सम्यक्त्वको दृढ़ करलें। यदि वे चुपचाप रूढ़िवत भगवद्पूजन करके चले आते, तो उनका अज्ञान दूर न होता! इसलिए स्वाधीन रीतिसे तत्वोंका विवेचन करना बुरा नहीं है—पर वहां सच्ची अन्वेषक बुद्धिका होना जरूरी है, इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

मुनिराजने राजाका समाधान कर दिया, बतला दिया कि जीवके शुभाशुभ भाव कारण पाकर उत्पन्न होते हैं और उससे ही पुण्य, पाप बंध होता है। जिस तरह स्फटिक पाषाणमें कुसुम वर्णका ढंक लगानेसे उसकी द्युति अरुणश्याम होजाती है; उसी तरह जीवकी बात है। उसमें शुभाशुभ भावकर्मके अनुसार अंतर पड़ जाता है। इधर जिन प्रतिमा शुभ भाव उत्पन्न करनेका कारण है ही! क्योंकि श्री जिनेन्द्र भगवानकी वीतराग मुद्रा निरखिकर उन भगवानके दिव्य जीवनका स्मरण ही पूजकको आता है। और पुण्यात्मा महापुरुषोंके पवित्र जीवनोंका स्मरण हो आना भावोंको शुभ रूप करनेके लिये अवश्य ही कार्यकारी होता है। इसलिए इस शुभभावके उत्पन्न होनेसे जिनदेवका पूजन पुण्यबंधका कारण है। वैसे अवश्य ही जिनेन्द्र भगवानकी मूर्ति जड़ पाषाण है—रागद्वेषसे रहित, अमल और सुख दुखकी दाता नहीं है। वह दर्पण-

वत है; जैसा दर्पणमें मुंह देखोगे वैसा दिखाई पड़ेगा। इसी तरह जिसभावसे जिन भगवानकी प्रतिमाका अवलोकन किया जायगा उसी भावरूप पुण्य-पापका बंध पूजकके होगा। पुण्य पाप जीवके निजभावोंके आधीन हैं। जिस तरह एक सुन्दर वेश्याके मृत देह-को देखकर विषयलम्पटी जीव तो पछताता है कि हाय! यह जिन्दा न हुई जो मैं इसका उपभोग करता। एक कुत्ता मनमें कुढ़ता है कि इसे जला ही क्यों दिया गया, वैसे ही छोड़ देते तो मैं भक्षण कर लेता और विवेकी पुरुष उसको देखकर विचारते हैं कि हाय! यह कितनी अभागी थी कि इस मनुष्य-तनको पाकर भी इसने इसका सदुपयोग नहीं किया! वृथा ही विषयभोगोंमें नष्ट कर दिया; इसी तरह जिनबिम्बको देखकर अपनी२ रुचियोंके अनुसार लोग उसके दर्शन करते हैं। वेश्याका निर्जीव शरीर तीन जीवोंको तीन विभिन्न प्रकारके भाव उत्पन्न करनेमें कारणभूत बनगया, यह विल-क्षण शक्ति उसमें कहांसे आगई? वह तो जड़ था—उसमें प्रभाव डालनेकी कोई ताकत शेष नहीं रही थी फिर भी उसके दर्शनने तरह२के विचार तीन प्राणियोंके हृदयमें उत्पन्न कर दिये। यह प्रसंग मिल जानेसे जीवोंके परिणामोंके बदल जानेका प्रत्यक्ष प्रमाण है! इसलिए जिन प्रतिमासे विराग करनेकी कोई जरूरत नहीं। दृढ़ श्रद्धा रखकर यदि हम उनका आधार लेकर उन तीर्थंकर भग-वानके दिव्यगुणोंका चिंतवन करेंगे जो अपने ही सद्प्रयत्नोंसे जगत-पूज्य बन गए हैं तो अवश्य ही हमें जिनप्रतिमा पूजनसे पुण्यकी प्राप्ति होगी! इसमें संशय नहीं है।

आज प्रत्यक्षमें अंग्रेजोंको देखिये; कोई भी उनको मूर्तिपूजक

नहीं कह सक्ता, किन्तु वह अपने महापुरुषोंके प्रतिबिम्ब देश-विदेशोंमें आदरणीय स्थानोंपर बनाते हैं और उनकी विनय करते हैं। लन्दनके ट्राफलगर स्क्वायरमें एडमिरल नेलसन साहबकी पाषाण-मूर्ति खड़ी हुई है। अंग्रेज लोग प्रतिवर्ष एक नियत दिवस वहां उत्सव मनाते हैं और मूर्तिपर फूल-हार आदि चढ़ाते हैं। इतने पर भी उनका यह कृत्य 'मूर्तिपूजा' के रूपमें नहीं गिना जासक्ता; क्योंकि उनको उस पत्थरकी मूर्तिसे कुछ सरोकार नहीं है सरोकार है तो सिर्फ इतना कि वह उसके निमित्तसे अपनी कृतज्ञता और भक्तिको प्रदर्शित करते हुये अपनेमें एडमिरल नेसलनके वीर भावोंको भर लेते हैं। अंग्रेजोंको जो आज समुद्रोंपर सबसे बड़ा चढ़ा अधिकार प्राप्त है, वह एडमिरल नेलसनके ही कारण है। नेलसनने तो एक ही जल-संग्राममें अंग्रेजोंको विजयलक्ष्मी दिलाई थी; किन्तु उनकी मूर्तिने अंग्रेजोंमें लाखों नेलसन पैदा कर दिये हैं। अतः जो मूर्तिका आदर करते हैं; वह आदर्शभावसे करते हैं। इसी तरह जैनियोंकी पूजा है। वह मूर्तिपूजा न होकर आदर्शपूजा है। जैनग्रंथोंमें पाषाण आदिमें देवकी कल्पना करके पूजा करनेका खुला निषेध है। मूर्तिका सहारा लेकर उपासक धीरवीर और जगतोद्धारक तीर्थंकरोंके अपूर्व गुणोंसे अपने आन्तर्भावोंको अलंकृत करता है। जैनपूजामें दीनता और याचनाको स्थान प्राप्त नहीं है। वहांतो कृतज्ञताज्ञापन और आत्मानुभवको मुख्यता प्राप्त है। अतः जिनपूजामें आनन्दकुमारकी तरह शङ्का करना वृथा है। अस्तु;

राजा आनन्दकुमार विपुलमती मुनिराजके मुखारविन्दसे जिन पूजाके महत्वको सुनकर दृढ़ श्रद्धानी होगया और उसने उन मुनि-राजसे तीनों लोकके जैन मंदिरोंका भी वर्णन सुना। वह प्रतिदिवस सर्वही स्थानोंके जिन चैत्योंको परोक्ष नमस्कार करने लगा। सूर्य-देवके विमानमें भी जिनचैत्य उसे बताए गए थे, सो वह सांझ–सबेरे छतपर चढ़कर सूर्यकी ओर लक्ष्य करके वहांके जिनचैत्योंको अर्घ चढ़ाया करता था। राजाकी इस क्रियाको देखकर साधारण जनता भी वैसी ही क्रिया करने लगी। कहते हैं तबहीसे 'भानु उपासक' लोगोंका संप्रदाय उत्पन्न होगया, सूर्यदेवकी पूजा होने लगी, सूर्यमंदिर बनने लगे। इन सूर्यमंदिरोंका पता जबतब भारतके प्राचीन खण्डहरोंसे होजाता है। काश्मीरमें एक सुन्दर सूर्यमंदिर अब भी भग्न दशामें अवशेष है।

इस प्रकार बड़े भावसे जिनपूजा करता हुआ राजा आनन्द-कुमार राज्यप्रबंध कररहा था कि अचानक इसकी दृष्टिमें एक सफेद बाल आगया! सफेद बालने उसे बिल्कुल सफेद ही बना दिया! वह संसारसे विरक्त होगया—अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज्यभार सौंपकर उसने सागरदत्त मुनिराजके समीप जिनदीक्षा ग्रहण करली! पंच-महाव्रतोंको धारण करके वह भव्य जीव विशेष रीतिसे बाह्याभ्यंतर तपश्चरण करने लगा। विविध प्रकारके परीषहोंको समभावसे सहन करने लगा। वह राजर्षि शास्त्राभ्यासमें दत्तचित्त रहते, निर्मल भावोंसे दशलक्षण धर्म और सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन करते थे! इन भवतारण सोलहकारण भावनाओंके भानेसे आपके त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर कर्मका बंध बंधगया! उन्हें अनेक प्रकारकी

ऋद्धियोंकी प्राप्ति हो गई। त्यागभावमें अपूर्व शक्ति है, मनुष्यको स्वाधीन बनानेवाला यही एक मार्ग है।

राजर्षि आनंदकुमार एक रोज क्षीर नामक वनमें वैराग्यलीन खड़े हुये थे। मेरुके समान वह अचल थे, आतमसमाधिमें लीन वह टससे मस नहीं होते थे। इसी समय एक भयंकर केहरी उनपर आ टूटा! अपने पंजेके एक थपेड़ेमें ही वह धीरवीर मुनिराजके कंठको नोच ले गया! और फिर अन्य शरीरके अवयवोंको खाने लगा! इस प्रचंड उपसर्गमें भी वे महागंभीर राजर्षि अविचल रहे। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि और भी गहरी चढ़ा दी। वह यह भी न जान सके कि कोई उन्हें कुछ कष्ट पहुंचा रहा है। वह दृढ़ श्रद्धानी थे कि आत्मा अजर-अमर है, शरीर उसके रहनेका एक झोंपड़ा है। मरण होनेपर भी उसका कुछ विगड़ता नहीं! इसलिए शरीरके नष्ट होनेमें राग-विराग करनेकी उनको जरूरत ही न थी। आजकलके सत्यान्वेषी भी इसी तत्वको पहुंच चुके हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ओलीवर लॅाजने यह स्पष्ट प्रकट कर दिया है कि मृत्युके उपरांत भी जीव रहता है। मृत्युसे भय करनेका कोई कारण नहीं, (देखो हिन्दुस्थानरिव्यू)। राजर्षि आनन्दकुमार तो उस सत्यके प्रत्यक्ष दर्शन करचुके थे! फिर भला वह किसतरह सिंहकृत उपसर्गसे विचलित होते! वह अपने आत्मध्यानमें निश्चल रहे और इन शुभ परिणामोंसे इस नश्वर शरीरको छोड़कर आनत नामक स्वर्गमें देवेन्द्रोंसे पूज्य इन्द्र हुये!

यह केहरी सिंह जिसने इतने क्रूर भावसे राजर्षिपर आक्रमण किया था, सिवाय कमठके जीवके और कोई नहीं था। नर्कके दुःख

भोगकर वह इसी वनमें सिंह हुआ था। अपने कमठ और मरुभूति भवके बंधे हुए वैरको वह यहां भी नहीं भुला सका! राजर्षिको देखते ही उसे अपना पूर्वभव याद आगया और फिर जो उसने अधम कर्म किया, वह पाठक पढ़ ही चुके हैं। नीच केहरी इस अघके वशीभूत होकर पंचम नर्कमें जाकर पड़ा! शुभाशुभ कर्मोंका फल प्रत्यक्ष है। शुभ कर्मोंकर एक जीव तो उन्नति करता हुआ पूज्यपदको प्राप्त हो चुका और दूसरा अपनी आत्माका पतन करता हुआ नर्कवासमें ही पड़ा रहा! यह अपनी करनीका फल है!

आनन्दकुमार राजर्षि मरुभूतिके ही जीव थे और यही स्वर्गलोकसे आकर अपने दसवें भवमें त्रिजगपूज्य भगवान पार्श्वनाथ हुये थे। देवलोकमें इन्होंने अपूर्व सुखोंका उपभोग किया था। इस तरह भगवानके पूर्व नौ भवोंका दिग्दर्शन है। इससे यह स्पष्ट है कि भगवानने उन सब आवश्यक्ताओंकी पूर्ति कर ली थी, जो तीर्थंकर जन्म पानेके लिए आवश्यक होतीं हैं। एक तुच्छ जीव भी निरंतर इन आवश्यक्ताओंकी पूर्ति कर लेनेसे रंकसे राव हो सक्ता है, यह भी इस विवरणसे स्पष्ट है। कर्मसिद्धांतका कार्यकारी प्रभाव यहां दृष्टव्य है। अस्तु, अब अगाड़ी भगवान पार्श्वनाथके जन्मोत्सव संबंधमें कुछ कहनेके पहले हम यहांपर उस जमानेकी परिस्थितिपर भी एक दृष्टि डाल लेंगे, जिससे उस समयका वातावरण कैसा था, यह मालूम हो जायगा।

उस समयकी सुदशा !

"कौशाम्ब्यां धनमित्राख्य–धनदत्तादयो मुदा ।
वाणिज्येन वणिक्पुत्रा निर्गता राजगेहकम् ॥"

—आराधना कथाकोष ।

कौशाम्बीसे राजगृहको जाते हुये मार्गमें एक गहन बन पड़ता था। जिस समयका हम वर्णन लिख रहे हैं अर्थात् आजसे करीब पौनेतीन हजार वर्ष पहले जब कि भगवान पार्श्वनाथका सर्व सुखकारी जन्म होनेवाला था, तब इस भारतवर्षमें आजकलकी तरह रेल–गाड़ियां देशके इस छोरसे उस छोर तक दौड़ती नहीं फिरतीं थीं, लोग इसतरह निडर होकर यात्रा नहीं कर सक्ते थे कि जैसे अब करते हैं। अंग्रेजी राज्यके स्थापित होनेके पहले तक प्रायः यही दशा यहां मौजूद थी; परन्तु इसके अर्थ यह नहीं हैं कि प्राचीन भारतमें शासक लोग यात्रियोंकी रक्षाका प्रबंध नहीं करते थे और यह बात भी नहीं है कि पहले यहां कोई शीघ्रगामी रथ आदि यात्रा-वाहन थे ही नहीं! प्रत्युत हमको स्पष्ट मालूम है कि जनसाधारणकी यात्रा निष्कंटक बनानेके लिए स्वयं राजा लोग वनमें जाकर डाकुओं और वटमारोंको पकड़नेका प्रयत्न करते थे।[1] तथापि अग्निरथ और वायुयान जैसे शीघ्रगामी सवारियां भी थीं, परन्तु यह निश्चित नहीं है कि वे सर्वसाधारणको प्रायः मिल सक्तीं हों।

ऐसे ही समयमें धनमित्र, धनदत्त आदि बहुतसे सेठोंके पुत्र व्यापारके लिए कौशाम्बीसे चलकर राजगृहकी ओर रवाना हुये थे,

१. दी साम्स ऑफ दी ब्रेदरेन (थेरगाथा)–अंगुलिमाल ।

यह बात हमें जैनग्रन्थ 'आराधनाकथाकोष' में बताई गई है।[१] सेठ लोग अपना व्यापारका सामान गाड़ियोंपर लादे चले जारहे थे। रास्तेमें गहन वन पड़ता था, उसीमें होकर यह लोग गुजर रहे थे कि अचानक इनपर एक डाकुओंका दल टूट पड़ा और देखते ही देखते उन्होंने इनके माल असबाबको लूट लिया। यह बेचारे ज्यों त्यों अपनी जान बचाकर वहांसे भागे। डाकुओंके हाथ खूब धन आया, धन पाकर उन सबकी नियत बिगड़ी! सच है इस लक्ष्मीका लालच बड़ा बुरा है। भाई-भाई और पिता-पुत्रमें इसीकी बदौलत शत्रुता बढ़ती देखी जाती है। इन डाकुओंका भी यही हाल हुआ, सब परस्परमें यही चाहने लगे कि साराका सारा धन उसे ही मिले और किसीके पल्ले कुछ न पड़े। इस बदनियतको अगाड़ी रखकर वे एक दूसरेके प्राण अपहरण करनेकी कोशिष करने लगे। रातको जब वे लोग खानेको बैठे तो एकने भोजनमें विष मिला दिया; जिसके खानेसे सब मर गए! यहां तक कि भ्रममें पड़कर वह भी मर गया जिसने कि स्वयं विष मिलाया था; किन्तु इतनेपर भी उनमें एक बच गया। यह था एक सागरदत्त नामक वैश्यपुत्र! दुराचारके वश पड़ा हुआ यह इन डाकुओंके साथ रहता था, परन्तु इसके पहलेसे ही रातको भोजन न करनेकी प्रतिज्ञा थी; इसी कारण वह डाकुओंकी घातसे बाल बाल बच गया। सचमुच यह चंचल सम्पत्ति मनुष्योंके प्राणोंकी साक्षात् दुश्मन है और धर्म परम मित्र है। डाकूलोग धनके मोहमें मरे, पर धर्म प्रतिज्ञाको निभानेवाला सेठ पुत्र बच गया! धन और धर्मका ठीकस्वरूप यहां स्पष्ट है!

---

१. आराधनाकथाकोष भाग २ पृष्ठ ११२।

इस प्राचीन कथासे उस समयके भारतकी दशाका परिचय मिलता है। यहांके व्यापारी विशेष धनसम्पन्न और उद्यमी थे। वे दूर २ देशोंमें व्यापार करने जाया करते थे। तथापि इसके अतिरिक्त इस कथासे यह भी स्पष्ट है कि उस समय भी जैन-सिद्धांतोंका प्रचार विशेष था। रात्रिभोजनका त्याग जैनीके बच्चे२-को होता है। इस कथामें भी इस नियमका महत्व प्रगट किया गया है। सचमुच जैनधर्म बौद्धधर्मके स्थापित होनेके बहुत पहलेसे भारतवर्षमें चला आरहा था; जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। यद्यपि यह बात आज सर्वमान्य है।[1]

उक्त जैनकथाके कथनकी पुष्टि अन्य श्रोतोंसे भी होती है। बौद्धोंके यहां भी एक कथामें विदेहको व्यापारका केन्द्र बताया गया है। वहां श्रावस्तीसे विदेहको व्यापार निमित्त जाते हुये बनके मध्य एक व्यापारीकी गाड़ीका पहिया टूट जानेका उल्लेख है[2]। प्राच्यविद्या विशारद स्व० डॉ० हीस डेविड्स अपनी स्वतंत्र खोज द्वारा इस ओर विशेष प्रकाश डाल चुके हैं और उस समय व्यापारकी अभिवृद्धिका जिकर करते हुये वे व्यापारके मुख्य मार्गोंको इस प्रकार बतलाते हैं:-[3]

(१) एक मार्ग तो **उत्तरसे दक्षिण**-पश्चिमकी ओरको था; जो श्रावस्तीसे बहुत करके महाराष्ट्रकी राजधानी प्रतिष्ठान (पैंडत) तक गया था। इसमें व्यापारके मुख्यनगर दक्षिणकी ओरसे माहिस्सति, उज्जैनी, गोनद्ध, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत पड़ते थे।

१-दी अर्ली हिष्ट्री ऑफ इन्डिया (तृतीयावृत्ति) पृ० ३१। २-दी क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० १४६। ३-बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० १०३।

(२) दूसरा मार्ग **उत्तरसे दक्षिण पूर्वकी** ओरको था। यह श्रावस्तीसे राजगृहको गया था। श्रावस्तीसे चलकर इसपर मुख्य नगर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हत्थिगाम, भन्डगाम, वैशाली, पाटलीपुत्र और नालन्दा पड़ते थे। यह मार्ग शायद गया तक चला गया था और वहांपर यह एक अन्य मार्ग जो समुद्रतटसे आया था, उससे मिलगया था। यह मार्ग संभवतः ताम्रलिप्तिसे बनारसके लिये था।

(३) तीसरा मार्ग **पूर्वसे पश्चिमको** था। यह मुख्य मार्ग था और प्रायः बड़ी नदियोंके किनारे २ गया था। इन नदियोंमें नांवें किरायेपर चलतीं थीं। सेहजति, कौशाम्बी, चम्पा आदि सर्व ही मुख्य नगर इस मार्गमें आते थे।

इस तरह ये व्यापारके विशेष प्रख्यात् मार्ग उस समयके थे। इनमें महाराष्ट्र तक ही सम्बन्ध बतलाया गया है। दक्षिण भारतके विषयमें कुछ नहीं कहा गया है। पुरातत्वविदोंका मत है कि उस जमानेमें उत्तरभारतवालोंको दक्षिणभारतके विषयमें बहुत कम ज्ञान था—वे उसको 'दक्षिणपथ' कहकर छुट्टी पा लेते थे परन्तु जैनशास्त्रोंमें हमें इस व्याख्याके विपरीत दर्शन होते हैं। वहां प्राचीनकालसे दक्षिण भारतका सम्बन्ध जैनधर्मसे बतलाया गया है। भगवान ऋषभदेवके पुत्र बाहुबलि दक्षिण भारतके ही राजा थे[1] इस अपेक्षा जैनधर्मका अस्तित्व वहां वेदोंके रचे जानेके पहलेसे प्रतिभाषित होता है, क्योंकि हिन्दुओंके भागवतमें (अ० ९, ४-९-६) ऋषभदेवको आठवां और वामनको बारहवां अवतार

१—आदिपुराण पर्व ३४-३७ और 'वीर' वर्ष ४ पोदनपुर।

बतलाया है और वामनका उल्लेख वेदोंमें है। इस दृष्टिसे भगवान ऋषभदेवका अस्तित्व वेदोंके पहलेका सिद्ध होता है। इन्हीं ऋषभदेव द्वारा इस युगमें पहले २ जैनधर्मका प्रचार हुआ था। अतएव जैनधर्मका प्रारम्भ भारतके एक गहरे इतिहासातीत कालमें होता है और इस अपेक्षा दक्षिण भारतका परिचय भी जैन शास्त्रोंमें तबहीसे कराया गया है।

भगवान् नेमिनाथजीके तीर्थमें हुये कामदेव नागकुमारकी कथामें भी हमको दक्षिण भारतका पता चलता है। यह उल्लेख भगवान् पार्श्वनाथसे भी पहलेका है। वहां कहा गया है कि पांडुदेशमें दक्षिणमथुराके राजा मेघवाहन रानी जयलक्ष्मीकी पुत्री श्रीमतीने प्रतिज्ञा की है कि जो कोई मुझे नृत्य करनेमें मृदंग बजाकर प्रसन्न करेगा, वही मेरा पति होगा।.......श्रीमतीकी प्रतिज्ञा सुनकर नागकुमारने दक्षिणमथुराको प्रस्थान किया था। मथुरामें पहुंचकर नृत्य समयमें श्रीमतीको मृदंग बजाकर प्रसन्न किया और अन्तमें उसके साथ विवाह करके वे सुखसे वहीं रहने लगे थे।[१] यहांसे नागकुमार समुद्रके मध्य अवस्थित तोपावलि द्वीपमें गए थे और वहांसे कांचीपुर नगरमें पहुंचकर वहांके राजा श्रीवर्माकी कन्यासे पाणिग्रहण किया था। कांचीपुरसे कलिंगदेशके दंतपुर नगरमें पहुंचे और फिर वे ऊड़ देशको गए थे।[२] इस तरह वह दक्षिणभारतके देशोंमें परिचित रीतिसे विचर रहे थे, यद्यपि वे स्वयं चम्पानगरके निवासी थे।

इसी प्रकार 'चारुदत्त' की कथासे भी उस समयके भारतके

१–पुण्याश्रव कथाकोष पृ० १७५। २–पूर्व पृ० १७७।

व्यापारकी अभिवृद्धि और दक्षिणभारतका दिग्दर्शन स्पष्टरीतिसे होता है। कहा गया है कि जब चारुदत्तने अपना सब धन वेश्याको खिला दिया, तब वह अपने मामाके साथ धन लेकर चम्पासे उल्-खदेशके उशिरावर्त नामक शहरमें पहुंचा था। यहांसे कपास खरीदकर वह ताम्रलिप्त नगरको संभवतः उपर्युल्लिखित दूसरे मार्गसे गया था। रास्तेमें भयंकर वनीमें आग लग जानेसे इनकी सारी कपास नष्ट होगई थी। वहांसे यह पवनद्वीपको गए थे, परन्तु लौटते समय दुर्भाग्यसे इनका जहाज नष्ट होगया और यह समुद्रके किनारे लगकर किसी तरह राजगृह पहुंचे। वहां एक उज्जैनीका वणिक्पुत्र इनको मिला था जिसने सिंहलद्वीपमें व्यापार निमित्त जाकर धन नष्ट कर आनेवाली अपनी दुःखभरी कहानी कही थी। यहांसे यह दोनों व्यक्ति रत्नद्वीपको धन कमानेके लिए चल पड़े थे। यहां इनको जैन मुनिका समागम हुआ था।[1] यह सिंहलद्वीप और रत्नद्वीप विद्वानोंने लंका बतलाये हैं। सिंहल और रत्नद्वीप उसीके नाम थे। इस प्रकार इस कथामें भी दक्षिण भारतके लम्बे छोरतक व्यापारियोंके जानेका उल्लेख हमें मिलता है।

यह संभव है कि साधारण पाठक उपरोक्त जैन कथाओंके कथनपर सहसा विश्वास न करें, परन्तु इसके लिए हम अन्य श्रोतोंसे भी इस बातको प्रमाणित करेंगे कि दक्षिणभारतमें जैनधर्मका अस्तित्व बहुत पहलेसे रहा है और जैनोंको वहांका परिचय भी उतना ही पुराना है। प्रोफेसर एम० आर० रामास्वामी अय्यंगरने राजावली कथेका विशेष अध्ययन किया है और उसके कथनको उन्होंने सत्य

१–आराधना कथाकोष भाग २ पृ० ८२–८६।

भी पाया है । उसमें भी लिखा है कि विशाखमुनि (ईसासे पूर्व तीसरी शताब्दि)ने चोल पाण्ड्य आदि देशोंमें विहार करके वहांपर स्थित जैन चैत्योंकी वंदना की थी और उपदेश दिया था । इसपर उक्त प्रोफेसर लिखते हैं कि इससे यह प्रकट है कि भद्रबाहु अर्थात् ईसासे पूर्व २९७ के बहुत पहलेसे ही जैनलोग गहन दक्षिणमें आन बसे थे ।[1] और अगाड़ी चलकर आप बौद्धोंके महावंश नामक ग्रंथके आधारसे कहते हैं कि लंकाके राजा पान्डुगाभयने जब अपनी राजधानी ईसासे पूर्व करीब ४३७में अनुरुद्धपुर बनाई थी तो वहां एक निगन्थ (जैन) उपासक 'गिरि' का भी गृह था और राजाने निगन्थ कुम्बन्धके लिए भी एक मंदिर बनवाया था ।[2] इससे लंकामें जैन धर्मका अस्तित्व ईसासे पूर्व पांचवी शतब्दिमें प्रो० साहब बतलाते हैं और इसके साथ ही दक्षिण भारतमें भी[3], परन्तु यह समय इससे भी कुछ अधिक होना चाहिए क्योंकि इससमय ही यदि जैनलोग इन देशोमें आए होते तो एक विदेशी राजा उनके प्रति इतना ध्यान नहीं देता । वह वहांपर उसके बहुत पहले पहुंचे होंगे तब ही उनका प्रभाव वहांपर इतना जमा होगा कि वहांके राजाका भी ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ था । तिसपर इतना तो स्पष्ट ही है कि इन देशोंमें बसनेके बहुत पहलेसे जैनोंका आना जाना यहां अवश्य होता रहा होगा, जैसे कि उपरोक्त जैन कथाओंसे प्रकट है । बौद्धोंके 'महावंश' से भी प्राचीन ग्रन्थ 'दीपवंश' में भी यह और

१–स्टडीज़ इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग १ पृ० ३२ । २–महावंश पृ० ४९ । ३–स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग १ पृ० ३३ !

लिखा हुआ है कि वह जैन विहार जो लंकामें हुये पहलेके इक्कीस राजाओंके समयसे मौजूद था, राजा वत्तागामिनी (ई०से पूर्व ३८–१०) द्वारा नष्ट कर दिया गया था। यह राजा जैनोंसे रुष्ट होगया और उसने उनके विहारको उजड़वा दिया। (दीपवंश १९–१४) इस उल्लेखसे लंकासे जैनधर्मका प्राचीन सम्बंध प्रगट होता है। अतएव उपरोक्त कथाओंको हम विश्वसनीय पाते हैं।

इसप्रकार उस समयके भारतवर्षका व्यापार उन्नतशील अवस्थामें था। यहांके व्यापारी दूर दूर तक व्यापार करने जाते थे। जैन कथाओंमें अनेकों जैन वणिकोंका जहाजद्वारा विदेशोंमें जाकर व्यापार करनेके उल्लेख मिलते हैं।[1] पुरातत्वविदोंने भी इस बातको स्वीकार किया है कि ईसासे पूर्व आठवीं शताब्दिसे भारत और मेडेट्रेनियन समुद्रके देशोंके मध्य व्यापार होता था।[2] यह व्यापार आजकलके व्यापारियों जैसी कोरी दलाली अथवा धोखेबाजी नहीं थी। तबके व्यापारी आजसे कहीं इमानदार और संतोषी थे। वे भारतीय शिल्पको उन्नत करना अपना फर्ज समझते थे। कलतक इस देशका शिल्प भुवनविख्यात था।[3] यही नहीं कि यह व्यापारी विदेशोंमें जाकर केवल अपनी अर्थसिद्धिका ही ध्यान रखते हों, प्रत्युत हमें यह भी मालूम है कि इनके द्वारा भारतीय सभ्यताका प्रचार दूर२ देशों तक हुआ था।[4] इस तरह यहांका व्यापार भगवान पार्श्वनाथके जन्म समय अपनी उन्नत दशामें था और यह

१–आराधना कथाकोष, पुण्याश्रव आदि ग्रन्थ। २–देखो पंचानन मित्राकी 'प्री–हिस्टॉरिकल इन्डिया' पृष्ठ ३३। ३–भारत–भारती पृ० १०६–१०७। ४–देखो 'प्री–हिस्टॉरिकल इन्डिया' पृ० २७–३३।

मानी हुई बात है कि जिस देशका व्यापार अभिवृद्धिपर होगा वह देश अवश्य ही सम्पत्तिशाली होता है। इसी अनुरूप भारतकी आर्थिक अवस्था भी उस समय बहुत ऊंचे दर्जेकी थी। आजकलकी तरह वह दरिद्र नहीं था।

भगवान पार्श्वनाथसे कुछ पहले जो जैनशास्त्रोंमें बताए गए अंतिम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त होगए थे, उनकी विभूतिका जो वर्णन जैन शास्त्रोंमें दिया गया है, उससे भी यहांकी समृद्धशाली दशाका परिचय मिलता है। चक्रवर्ती सम्राट्की सम्पत्ति जैनशास्त्रोंमें इस तरह बतलाई गई है—उनकी सेनामें चौरासी लाख मदोद्धत हाथी, अठारह करोड़ तीक्ष्णवेगके धारक घोड़े, चौरासी लाख सुंदर रथ, और चौरासी करोड़ पयादे लिखे गए हैं। उनके आधीन बतीस हजार देश और छ्यानवें करोड़ गांव आदि बताए गए हैं। बत्तीस हजार राजा चक्रवर्तीकी सेवा करते हैं। इसी तरह और भी अनेक प्रकारकी उनकी संपदा बताई गई है। यह सब ही सम्राट् ब्रह्मदत्तके यहां मौजूद थी। इससे उस समयके विशेष संपत्तिशाली भारतवर्षके स्पष्ट दर्शन होते हैं।

इस तरहकी सुखसम्पन्न दशामें यहांके निवासियोंके दैनिक जीवन भी बड़े सुखसे व्यतीत होते थे। आनन्दके साथ वह पेट भरकर बेफिकरीसे अपने परलोक साधनकी धुनमें रहते थे, परन्तु विप्र लोगोंके प्राबल्यसे वे बहुधा उनको पूजकर अथवा और तरहसे क्रियाकाण्डकी पूर्ति करके अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ लेते थे। शेष जीवनभर वह मजेदार सांसारिक रंगरलियां किया करते थे। यहांतक कि ब्राह्मण ऋषि एवं अन्य परिव्राजक साधु आदि स्त्री

संसर्गको बुरा नहीं समझते थे;[१] जैसे कि हम अगाड़ी देखगे। सचमुच ब्रह्मचर्यकी महत्ता लोगोंके दिलसे कम हो चली थी। इसके साथ ही लोगोंको अपनी जाति और कुलका बड़ा घमण्ड था। विप्रोंके प्राबल्यसे इतर वर्णोंके लोगोंके मनुष्यके प्रारंभिक हक भी अपहरण कर लिये गये थे।

जैन शास्त्रोंके कथानक भी इन बातोंकी पुष्टि करते हैं। सम्रा श्रेणिकके पुत्र अभयकुमारके पूर्वभव बतलाते हुए इस जातिमदका खुला विरोध ग्रन्थकारको करना पड़ा है। उस समय भी जैनी मौजूद थे, यद्यपि यह अवश्य था कि, उनमें भी समयानुसार शिथिलता प्रवेश कर गई थी।[२] परन्तु वह अपने सम्यक्त्व-आप्त, आगम, पदार्थके स्वरूपके समझनेसे च्युत नहीं हुए थे, यह बात कुमार अभयके पूर्वभव कथनके निम्न अंशसे स्पष्ट है। भगवान महावीरके समबशरणमें पूज्य गणधर इन्द्रभूति गौतमने इस सम्बंधमें कहा था:-

पूर्व भवमें तू (अभयकुमार) एक ब्राह्मणका पुत्र था और वेद पढ़नेके लिये देश विदेशमें फिर रहा था। इसी भ्रमणमें तेरा साथ एक जैनी पथिकसे होगया था। देवमूढ़ता आदिको उसके सहवा-ससे तूने छोड़ दिया था। "तदनंतर वह जैनी उसकी जातिमूढ़ता दूर करनेके लिए कहने लगा कि गोमांस भक्षण तथा वेश्यादि सेवन, न करने योग्योंका सेवन करनेसे व्यक्ति क्षणभरमें पतित हो जाता है। इसके सिवाय इस शरीरमें वर्ण वा आकारसे कुछ भेद भी दिखाई नहीं पड़ता और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें शूद्रोंसे भी

१-हमारा 'भगवान महावीर और म० बुद्ध' पृ० ४३। २-उत्तरपुराण पृ० ६९५।

गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए मनुष्योंमें गाय और घोड़ेके समान जातिका किया हुआ कुछ भेद नहीं है। यदि आकृतिमें कुछ भेद हो तो जातिमें भी कुछ भेद कल्पना किया जासक्ता है ॥४९०–४९२॥ जिनकी जाति, गोत्र, कर्म आदि शुक्लध्यानके कारण हैं वे उत्तम तीन वर्ण कहलाते हैं और बाकी सब शूद्र कहलाते हैं ॥४९३॥........इस प्रकारके वचनों द्वारा उस श्रावकने जाति मूढ़ता भी दूर की।" (पं० लालारामजी द्वारा अनुवादित व प्रकाशित "उत्तरपुराण" पृष्ट ६२६–६२७)[1]

इससे स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथके समयमें जाति मूढ़तामें पड़े हुये लोग ब्राह्मणपने और क्षत्रियपने आदिके नशेमें चूर थे। उनके इस मिथ्याश्रद्धानको दूर करनेका प्रयत्न जैनी विद्वान् किया करते थे। आजकल भी जातिमूढ़ता भारतमें बढ़ी हुई है। भारतीय नीच वर्णके मनुष्योंको मनुष्य तक नहीं समझते। उनको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। हतभाग्यसे आजके जैनी भी इसी प्रवृत्तिमें वहे जा रहे हैं। वह अपने प्राचीन पुरुषोंकी भांति भारतीयोंकी इस जातिमूढ़ताको मेटनेमें अग्रसर नहीं हैं। सचमुच प्राकृत रीतिसे ही

१–तस्य पाखण्डिमौढ्यं च युक्तिभिः स निराकृतः।
गोमांस भक्षणागम्यगमाद्यैः पतिते क्षणात् ॥ ४९० ॥
वर्णाकृत्यादि भेदानां देहेस्मिन्नच दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैंगर्भाधान प्रवर्त्तनात् ॥ ४९१ ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृति ग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ ४९२ ॥
जाति गोत्रादि कर्म्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषुतेस्युस्त्रयो वर्णः शेषाः शूद्राप्रकीर्तिताः॥४९३॥ इति गुणभद्राचार्यः"

जातिका मद करना वृथा है। ब्राह्मण जैसे उत्तम वर्णमें जन्म लेकर भी अपने नीच आचार द्वारा एक व्यक्ति महापतित और नीच होता हुआ देखा जाता है। तथापि एक नीचवर्ण उच्चवर्णके साथ सम्बन्ध करके अपने आचरण सुधारता भी इसलोकमें दिखाई पड़ता है। यही बात एक अन्य जैनाचार्य स्पष्ट प्रकट करते हैं।[1] अतएव जातिका घमण्ड किस बिरतेपर किया जाय! उस प्राचीनकालमें जातिमदका भूत लोगोंके सिरसे उतारनेका प्रयत्न जैनी करते थे और उस समय भी यह मद लोगोंको खूब चढ़ा हुआ था, यह बात जैन ग्रन्थोंके उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह कथन सत्यको लिये हुए प्रगट होता है। म० बुद्धके समयका जो विवरण हमको मिलता है, उससे कुछ विभिन्न दशा कुछ वर्षों पहले नहीं होसक्ती है और वास्तवमें जो सामाजिक दशा म० बुद्धके समयमें बताई गई है वह जरूर ही उस अवस्थाको क्रम

१–एकोदूरात्यजतिमदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमहमितिस्नातिनित्यंतयैन। द्वावप्येतौयुगपदुदरान्निर्गतौशूद्रिकायाः शूद्रौसाक्षादपि च चरतो जातिभेद भ्रमेण ॥ १ ॥ ३ ॥ –श्री अमितगतिः

वर्तमानकालके दिग्गज विद्वान् स्याद्वादकेसरी, न्याय वाचस्पति स्व० पं० गोपालदासजी बरैयाने भी शास्त्राधारोंसे यही मत प्रगट किया है। वे अपने एक लेखमें, जो 'जैनहितैषी' भा० ७ अंक ६ (वीर नि० सं० २४३७)में प्रगट हुआ है, स्पष्ट लिखते हैं कि, "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंके वनस्पतिभोजी आर्य मुनि धर्म तथा मोक्षके अधिकारी हैं; म्लेच्छ और शूद्र नहीं हैं: परन्तु म्लेच्छों और शूद्रोंके लिये भी सर्वथा मार्ग बन्द नहीं है। क्योंकि त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसासे आजीविकाका त्याग करनेसे कुछ कालमें म्लेच्छ आर्य होसक्ता है और शूद्रकी आजीविकाके परिवर्तनसे शूद्र द्विज होसक्ता है। इत्यादि।"

क्रमकर ही पहुंची होगी। क्रांति एकदम उठ खड़ी नहीं होती। जब सामाजिक अत्याचार चर्मसीमाको पहुंच जाता है, तब ही वहां क्रांतियां प्रगट होने लगतीं हैं। म० बुद्धके समयमें एक सामाजिक क्रांति ही उपस्थित थी। इसलिए भगवान् पार्श्वनाथके समयमें सामाजिक अत्याचारोंकी भरमार होना प्राकृत संगत है।

स्व०मि० ह्रीसडेवेड्रिस सा०ने बौद्धकालीन सामाजिक व्यवस्थापर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "ऊपरके तीनवर्ण मूलमें प्राय: एक हो रहे थे; क्योंकि विप्र और क्षत्रियपुत्र एक तरहसे तीसरे वैश्य वर्णमेंके वह व्यक्ति थे जिन्होंने अपनेको सामाजिक वातावरणमें उच्चपद पर पहुंचा दिया था। और यद्यपि जाहिरा यह कार्य कठिन था, तो भी यह संभव था कि ऐसे परिवर्तन होवें। साधारण स्थितिके मनुष्य राजपुत्र बन जाते थे और दोनों ही ब्राह्मण हो जाते थे। ग्रंथोंमें इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिलते हैं। सुतरां ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं—स्वयं विप्रोंके कियाकाण्डके ग्रंथोंमें—कि जिनमें हरप्रकारकी सामाजिक परिस्थतिके स्त्री पुरुषोंका परस्पर पाणिग्रहण हुआ हो। यह संबंध केवल उच्चवर्णी पुरुष और नीच कन्यायोंके ही नहीं है, बल्कि बिलकुल बरअक्स इसके अर्थात् नीच पुरुष और उच्चवर्णी स्त्रीके विवाह संबंधके भी हैं।"[1]

वास्तवमें विवाह क्षेत्र भी उस समय इतना सीमित नहीं था जितना कि आज वह संकीर्ण बना लिया गया है। आज तो अपनी वैश्य जातिमें भी नहीं, बल्कि वैश्य जातिके भी नन्हें नन्हें टुकड़ोंमें ही वह बंद कर दिया गया है। आज यदि कोई जैनी अपने ही

१—देखो बुद्धिस्ट इन्डिया पृष्ठ ५५–५९।

समान अन्य साधर्मी और सजातीय अर्थात् वैश्यसे विवाह सम्बंध कर लेता है तो उसके इस कृत्यको कोई२ लोग बुरी निगाहसे देखते हैं; परन्तु उस समय यह बात नहीं थी। विवाह क्षेत्र अपनी ही जाति या अपने ही साधर्मी भाइयोंमें ही नियमित नहीं था बल्कि शूद्रों और म्लेच्छोंकी कन्याओंसे भी विवाह किये जाते थे। तथापि ऐसे विवाहोंको करनेवाले लोग कभी भी नीची निगाहसे नहीं देखे जाते थे। सचमुच वे इतने पूज्य माने गए हैं कि आज भी हम उनके गुणगान शास्त्रोंमें सुनते हैं। इसलिए उस समय जातिका अभिमान विवाह करनेमें बाधक नहीं था। इसका यही कारण था कि उस समयके प्रधान मतावलम्बी विप्रोंने ब्रह्मचर्यपर विशेष जोर नहीं दिया था; जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। हिन्दू और जैन ग्रन्थोंके निम्न उदाहरण भी हमारी उक्त व्याख्या और विवाह क्षेत्रकी विशालताको प्रगट कर देते हैं।

"मनुस्मृतिके ९वें अध्यायमें दो श्लोक निम्नप्रकार पाये जाते हैं-

'अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्न पकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैर्भर्तृ गुणैः शुभैः॥ २४॥

"इन श्लोकोंमें यह बतलाया गया है कि अधम योनिसे उत्पन्न हुई-निःकृष्ट (अछूत) जातिकी अक्षमाला नामकी स्त्री वशिष्ठ ऋषिसे और शारंगी नामकी स्त्री मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहित होनेपर पूज्यताको प्राप्त हुई। इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी ही हीन जातियोंकी स्त्रियां उच्च जातियोंके पुरुषोंके साथ विवाहित होनेपर अपने२ भर्तारके शुभ गुणोंके द्वारा इस लोकमें उत्कर्षको

प्राप्त हुई और उन दूसरी स्त्रियोंके उदाहरणमें टीकाकार कुल्लूकभट्ट-जीने 'अन्याश्च सत्यवत्यादयो' इत्यादि रूपसे सत्यवतीके नामका उल्लेख किया है। यह सत्यवती हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार एक धींवरकी-कैवर्त्य अथवा अन्त्यजकी कन्या थी। इसकी कुमारावस्थामें पाराशर ऋषिने इससे भोग किया और उससे व्यासजी उत्पन्न हुए जो कानीन कहलाते हैं। बादको यह भीष्मके पिता राजा शान्तनुसे व्याही गई और इस विवाहसे विचित्रवीर्य नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे राजगद्दी मिली और जिसका विवाह राजा काशीराजकी पुत्रियोंसे हुआ। विचित्रवीर्यके मरनेपर उसकी विधवा स्त्रियोंसे व्यासजीने अपनी माता सत्यवतीकी अनुमतिसे भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नामके पुत्र पैदा किये जिनसे पाण्डवों आदिकी उत्पत्ति हुई।.... एक और नमूना 'ययातिराजाका उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की देवयानी' कन्यासे विवाहका भी है। यथा:—

तेषां ययातिः पंचानां विजित्य वसुधामिमां।
देवयानिमुशनसः सुतां भार्यामवाप सः ॥

महाभा० हरि० अ० ३० वां।

"इसी विवाहसे 'यदु' पुत्रका होना भी माना गया है, जिससे यदुवंश चला।" इस तरह पर हिन्दू शास्त्रोंमें हीन जातियों और शूद्रा स्त्रियों तकसे विवाह संबन्ध करनेके अनेकों उदाहरण मिलते हैं; जो हमारे उपरोक्त कथनको स्पष्ट कर देते हैं। साथ ही जैन-शास्त्रोंमें भी विवाह क्षेत्रकी विशालता बतानेवाले अनेकों उदाहरण मिलते हैं। यहां हम उनमेंसे केवल उनका ही उल्लेख करेंगे जो भग-

१. विवाहक्षेत्र प्रकाशसे।

वान पार्श्वनाथके समय अथवा उनसे पहलेके हैं। पहले ही तेईसवें तीर्थंकर श्री नेमनाथजीके समयके वसुदेवजीको ले लीजिये। यह वसुदेवजी स्वयं क्षत्री थे, परन्तु इनने विश्वदेव नामक ब्राह्मणकी क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न सोमश्री नामक कन्यासे विवाह किया था। इसका उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य प्रणित 'हरिवंशपुराण (२३वें सर्ग) में इन श्लोकोंमें किया गया है:—

"अन्वयेतत्तु जातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका।
सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेव द्विजन्मनः॥ ४९॥
कराल ब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा।
वेदेजेतुः समादिष्टा महतः सहचारिणी॥ ५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदूत्तमाः।
जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे विधानतः॥ ५१॥"

दूसरा उदाहरण श्रीकृष्णके भाई गजकुमारका है। श्रीकृष्णने इनका विवाह क्षत्रियराजाओंकी कन्याओंके अतिरिक्त सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री सोमासे भी किया था। इस घटनाका उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य और ब्रह्मचारी जिनदास दोनोंके ही हरिवंशपुराणमें मिलता है। ब्र० जिनदासजीके हरिवंशपुराणमें इस संबन्धका श्लोक यह है:—

"मनोहरतरां कन्यां सोमशर्माग्रजन्मः।
सोमाख्यां वृत्तवांश्चक्री क्षत्रियाणां तथा परा॥ ३४-२६॥"

तीसरा उदाहरण ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीका है जो भगवान पार्श्वनाथके कुछ ही पहले हो गुजरे थे।[1] इनकी छ्यानवे हजार रानियोंमेंसे अठारह हजार म्लेच्छकन्यायें भी थीं। प्रत्येक चक्रवर्तीके

1. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया भाग १ पृ० १८०।

नियमानुसार ऐसी ही रानियां होती हैं।[1] इसी समयके प्रसिद्ध राजा नागकुमारका पहला विवाह एक वेश्याकी पुत्रियोंसे हुवा था।[2] अस्तु;

जैन शास्त्रोंके इन उदाहरणोंसे भगवान पार्श्वनाथके जन्मकालमें जो सामाजिक उदारता इस भारत भूपर फैल रही थी और जो यहांपर विवाह करनेकी स्वतंत्रता थी, वह स्पष्ट प्रकट है। हतभाग्यसे आज हम अपने प्राचीन पुरुषोंके जीवनचरित्रोंसे अनभिज्ञ होकर अपने इतरवर्णी भाइयोंको मनुष्य ही नहीं समझते हैं। हमारा सामाजिक जीवन बिल्कुल हेय और निकम्मा होगया है। पर भगवान पार्श्वनाथके समय यह बात नहीं थी; यद्यपि उस समय भी विप्रोंको अपने ब्राह्मणपनेका झूठा अभिमान था और अन्य लोगोंके धार्मिक अधिकार झंझटमें पड़े हुये थे; जिनकी रक्षा करनेको ही मानो भगवान पार्श्वनाथका जन्म हुआ था।

इस प्रकार उस समयके एक तरहसे उदार सामाजिक जगतमें लोग अपने जीवन यापन कर रहे थे; परन्तु उनकी आत्मायें धार्मिक वातावरणके अप्राकृत रूपसे छटपटा रहीं थीं। उनको उस समयके धार्मिक नियमों और मान्यताओंसे बहुत कम संतोष मिलता था, जिस कारण प्रायः नए२ मंतव्य प्रगट होते जाते थे, जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। सामाजिक जीवनके मुख्य अंग विवाह-प्रणालीके नियम उदार और आदर्श होनेपर भी लोगोंको ऊंच नीचका भेद अखर रहा था। वे विप्रोंके हाथके कठपुतले बना रहना ठीक नहीं समझते थे और स्वयं ही अपनी धार्मिक जिज्ञासाकी पूर्ति करनेके लिये शास्त्रोंका पठन पाठन करना और धार्मिक सिद्धांतोंपर

---

१. पार्श्वपुराण पृ० २७। २. नागकुमार चरित्र पृ० १९।

गवेषणामय विवाद करना आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथके उपरांत इस अशांतिने एक क्रांतिका रूप धारण कर लिया था और उस समय हर प्रकारकी स्थितिके हजारों मनुष्य–पुरुष और स्त्री समान रूपमें गृह त्यागकर सैद्धांतिक विवाद क्षेत्रमें कूद पड़ते थे। संसारभरमें यह समय अनोखा और अपूर्व था।[1] भगवान पार्श्वनाथके उपदेशने उनको इतना साहस दे दिया था कि वे अपने२ मन्तव्योंकी स्पष्ट रीतिसे घोषणा करने लगे थे। इसीलिए हमें बतलाया गया है कि उस समय ये साधु लोग वर्षा-ऋतुको छोड़कर बाकी वर्षभर देशमें भ्रमण करके सैद्धांतिक शास्त्रार्थ और वादमें समय व्यतीत करते थे।[2] म० बुद्धने साधुओंके इस वादकी बढ़ी हुई मात्राको, जिसने कि एक 'अति' का रूप धारण कर लिया था, खुला विरोध किया था और सैद्धांतिक शास्त्रार्थको मनुष्य जन्मके उद्देश्यकी प्राप्तिमें बाधक माना था।[3]

सैद्धान्तिक विवेचनाके इस बढ़ते हुए जमानेमें संस्कृतकी उन्नति प्रायः नही हुई थी; क्योंकि इस समय तो धार्मिकक्षेत्रमें अपनी जिज्ञासाओं अथवा सिद्धान्तोंको लेकर एक मामूली ग्रामीण तक भी अगाड़ी आता था और वह स्वभावतः अपने मन्तव्योंको उसी भाषामें प्रगट करता था जो वह अपने घरमें रोजमर्रा बोलता था। यही कारण है कि उस समयके प्रख्यात् मतप्रवर्तकोंको अपने सिद्धान्तशास्त्रोंको उन प्राकृत भाषाओंमें रचना पड़ा था, जो उनके धर्मके मुख्य स्थानोंमें प्रचलित थीं। इसी अनुरूप म० बुद्धने पाली

१–बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० २४७। २–हिस्टॉरीकल ग्लीनिजास पृ० ९। ३–सुत्तनिपात (SBE) ८३०।

प्राकृतमें अपना उपदेश दिया था। भगवान पार्श्वनाथ और महावीर स्वामीके गणधरोंने अर्द्धमागधी प्राकृतमें उनकी द्वादशांग वाणीकी रचना की थी तथापि मक्खालिगोशालके ग्रन्थोंकी भाषा एक अन्य ही प्राकृत थी।[१] सचमुच उस समयको सर्वसाधारण लोगोंकी दैनिक बोलाचालकी भाषा जिसको कि हरकोई सुगमताके साथ समझता था और जो पश्चिममें कुरुदेशसे लेकर पूर्वमें मगध तक, उत्तरमें नेपालकी तराईमें श्रावस्ती और कुशीनारा तक और दक्षिणमें एक ओरको उज्जैन तक बोली जाती थी, अवश्य ही संस्कृत नहीं थी। साहित्यक (classical) संस्कृतका जन्म भी शायद उस समय नहीं हुआ था[२]। सुतरां एक तरहसे तक्षशिलासे लेकर चम्पा तक कोई भी संस्कृत नहीं बोलता था[३]। केवल प्राकृत भाषाओंकी ही प्रधानता थी; जोकि आजतक जैनधर्म और बौद्ध धर्मकी मुख्य भाषायें हैं।

उस समय जब कि भगवान पार्श्वनाथका जन्म होनेवाला था तब मनुष्योंमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ही भेद थे। इनके अनेकानेक प्रभेद दिखाई नहीं पड़ते थे; जैसे कि आज एक एक वर्ण अथवा जाति अनेक उपजातियोंमें बटी हुई दिखाई पड़ती है। उस समयके लोग इन चार वर्णोंको संभाले हुए थे, परन्तु विप्रोंके जातिमदसे इनमें जो परिवर्तन उपरान्तको होने लगे थे, उनका दिग्दर्शन हम कर ही चुके हैं। वास्तवमें अपनी आजीविकाको बदल कर हरकोई अपना वर्ण परिवर्तन भी करसक्ता था। उस समयके लोग अपने दैनिक जीवनमें नाम संज्ञा भी विविध

१–आजीविन्स् भाग १ पृ० ४५। २–बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० १४७। ३–पूर्व पुस्तक पृ० २११!

रीतिसे रखते थे। बौद्धकालीन समयमें विविध रीतिसे किसी व्यक्तिका नामोल्लेख भी होता था। स्वर्गीय मि० ह्रीस डेविड्स इसके आठ भेद इस तरह बतलाते हैं:—

"१-उपनाम-जो किसी व्यक्तिगत खासियतको लक्ष्य कर व्यवहारमें लाया जाता था। जैसे 'लम्बकण्ण' (लम्बे कानोंवाला) 'कूटदन्त' (निकले हुए दांतवाला), 'ओट्ठद्ध' (खरगोश जैसे होठोंवाला), 'अनाथ पिण्डक' (अनाथोंका मित्र), 'दारुपिट्टिक' (काठका कमण्डल रखनेवाला) इन सबका उपयोग मित्रभाव और बिलकुल छूटके साथ होता था। इस तरहके नाम इतने मिलते हैं कि हरकिसीका एक उपनाम होता था ऐसा भान होता है।

"२-व्यक्तिगत नाम-जिसको पालीमें मूलनाम कहा गया है। इसमें किसी व्यक्तिगत खासियतसे सम्बन्ध नहीं होता था। यह वैसा ही था जैसे आजकल हम सबके नाम होते हैं। इन नामोंमें कोई२ बड़े कठिन और विकृत हैं, परन्तु शेष ऐसे हैं जिनके शुभ अर्थ लगाना सुगम है। उदाहरणके तौरपर देखिए 'तिस्स' यह इसी नामके भाग्यशाली तारेकी अपेक्षा है और भी देवदत्त, भद्दिय, नंद, आनन्द, अभय आदि उल्लेखित किए जासक्ते हैं।

"३-गोत्रका नाम-जिसको हम खानदानी अथवा इंग्रेजीमें 'सरनेम' (Surname) कह सक्ते हैं। जैसे उपमन्न, कण्हायन, मोग्गलान, कस्सप, कोन्डण्ण, वासेट्ठ, वेस्सायन, भारद्वाज, वक्खायन।

"४-वंशका नाम-जो पालीमें 'कुलनाम' कहा गया है, जैसे सक्क, कालाम, बुलि, कोलिय, लिच्छवि, वज्जि, मल्ल आदि।

"५-माताका नाम-जिसके साथ 'पुत्त' लगा दिया जाता

था, जैसे सारीपुत्त, वैदेहीपुत्त (अजातशत्रु मगधाधिपका दूसरा नाम), मौदिकपुत्त (=उपक), गोधिपुत्त (=देवदत्त)। परन्तु माता और पिता अपने प्रख्यात् पुत्रकी अपेक्षा किसी नामसे परिचित प्रायः नहीं हुए हैं। यदि किसीका पुत्र प्रसिद्ध हुआ भी तो उसके माता-पिता 'अमुकके माता-पिताके रूपमें कहे गए हैं। तथापि पिताके नाम अपेक्षा भी पुत्रका नाम कभी नहीं रक्खा गया है। माताका नाम भी उसका खास मूल नाम नहीं होता है, बल्कि वह उसके वंश या कुलका नाम होता है।

"६-**समाजमें प्रतिष्ठित पदकी अपेक्षा पड़ा हुआ नाम**-अथवा सम्बोधित व्यक्तिके कर्मानुसार नाम। ऐसे नाम ब्राह्मण, गहपति, महाराज, आदि हैं।

"७-**शिष्टाचार या विनयरूप सम्बोधन**-जिसका सम्बंध संबोधित व्यक्तिसे तनिक भी नहीं हों, जैसे भन्ते, आवुसो, अय्ये आदि।

"८-**अन्ततः साधारण नाम**-जो किसी व्यक्तिके सम्बोधन करनेमें व्यवहृत नहीं होता है, बल्कि मूल या गोत्रके नामके साथ जोड़ दिया अथवा अगाड़ी लिखा जाता है, जिससे उसी नामके एकसे अधिक मनुष्योंका बोध होसके....। इन नामोंको किस ढंगसे कब व्यवहृत करना चाहिये, इसके लिए बतलाया गया है कि बराबर वालोंमें, जब उनमें मित्रताकी पूरी छूट न हो, उपनाम या मूल नामका व्यवहारमें लाना अशिष्ट समझा जाता था। बुद्ध ब्राह्मणोंको 'ब्राह्मण' नामसे उल्लेख करते हैं। परन्तु वह ही अन्य साधुओंको 'परिव्राजक' न कहकर उनके गोत्र नामसे पुकारते हैं। सच्चक निगन्थ (जैनी)को वह उसके गोत्र 'अग्गि वेस्सायन' के नामसे

सम्बोधित करते हैं। गोत्र नामसे उल्लेख करनेकी प्रथा प्रायः बहु प्रचलित थी, परन्तु निगन्थों (जैन मुनियों)के निकट उसकी मनाई थी। (जैकोबी, 'जैनसूत्र' भाग २ पृष्ठ ३०९) वे अपने संघको ही गोत्र कहते थे। (पूर्व ३२१-३२७) और जाहिरा किसी अन्य संघका अस्तित्व मानना सांसारिक समझते थे। बुद्ध अपने संघके लोगोंको मूल नामसे ही पुकारते थे। वस्तुतः उस समय गोत्र नाम अन्य मूल नाम आदि सबसे विशेष गौरवशाली समझा जाता था।" *

यदि हम जैनशास्त्रोंमें खोज करके देखें तो अवश्यही उनमें भी सम्बोधनके उपरोक्त भेदोंका परिचय अवश्य ही प्राप्त होजाता है। उदाहरणके तौरपर देखिये 'रक्तमुख' 'श्याममुख' आदि रूपसे 'उपनाम' का व्यवहार 'पद्मपुराण' में हुआ मिलता है। व्यक्तिगत नाम तो अनेकों मिलते हैं-ऋषभ, भरत आदि यही मूल नाम हैं। गोत्र नामका व्यवहार भी जैन शास्त्रोंमें होता हुआ मिलता है, जैसे भगवान पार्श्वनाथ अपने गोत्रकी अपेक्षा 'काश्यपीय' इन्द्रभूति गणधर 'गौतम' और सुधर्माचार्य 'अग्निवैश्यायन' कहलाते थे। वंश नामकी अपेक्षा स्वयं भगवान महावीर 'ज्ञातृपुत्र' के नामसे परिचित हुये थे। माताके नामसे भी विशेष व्यक्तियोंकी प्रख्याति जैनशास्त्रोंमें की गई है, जैसे ऐरानन्दन (शांतिनाथ), वामेय (पार्श्व-नाथ) इत्यादि। समाजमें प्रतिष्ठित पदकी अपेक्षा किसीका उल्लेख करना प्रायः बहु प्रचलित है। उत्तरपुराणमें अभयकुमारके पूर्वभव वर्णनमें ब्राह्मणपुत्रका उल्लेख इसी तरह हुआ है। शिष्टाचारके

* 'डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध' में महालि सुत्तकी भूमिका पृ० १९३-१९६।

शब्दोंका प्रयोग सदा सर्वदा होता रहा है। जैनशास्त्रोंमें भी इसके अनेकों उदाहरण मिल सक्ते हैं। यही दशा साधारण नामकी है। सारांशतः जैन शास्त्रोंसे भी हमें उस समयकी दशाके खासे दर्शन होजाते हैं।

अब देखना यह रहा कि उस समयकी राजनैतिक दशा क्या थी? इसके साथ ही 'धार्मिक परिस्थिति' का परिचय पाना भी जरूरी है, परन्तु हम उसका दिग्दर्शन एक स्वतंत्र परिच्छेदमें अगाड़ी करेंगे। अस्तु, यहांपर केवल राजनैतिक अवस्थापर एक नजर और डालना बाकी है। जैन पुराणोंपर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उस समय सर्वथा स्वाधीन सम्राटोंका अस्तित्व पाते हैं। सार्वभौमिक सम्राट् ब्रह्मदत्त भगवान पार्श्वनाथके जन्मसे कुछ पहले यहां मौजूद थे।[1] किंतु ऐसा मालूम होता है कि उनकी मृत्युके साथ ही देशमें उच्छृङ्खलताका दौरदौरा होगया था। छोटे छोटे राज्य स्वाधीन बन बैठे थे और विदेशी लोग भी आनकर जहां तहां अपना अधिकार जमा लेने लगे थे।[2] इस तरहकी राज्य व्यवस्थामें ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह घोषित होता है कि जनता खास अवसरोंपर स्वयं एक योग्य व्यक्तिको अपना राजा चुन लेती थी।[3] यह उपरान्तके प्रजसत्तात्मक राज्य जैसे लिच्छवि, मल्ल आदिका पूर्वरूप कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं है। जैन

---

१. उत्तरपुराण पृ० ५६४ और कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० १८० । २. उपरान्तके नागकुमारचरित और करकण्डु चरित्र आदि ग्रंथोंके पढ़नेसे यही दशा प्रकट होती है। अनेक छोटे२ राज्य दिखाई पड़ते हैं और विद्याधरोंको आनकर यहांपर राज्य करते बतलाया गया है। ३. दत्तपुरकी प्रजाने करकण्डुको अपना राजा चुना था। करकण्डुचरित देखो।

दृष्टिसे जो यह हालत राज्यकीय क्षेत्रमें मिलती है, वह अन्यथा भी सिद्ध है। प्राचीनतम भारतीय मान्यता इस पक्षमें है कि पहले एक व्यक्तिको जनता राजाके रूपमें चुन लेती थी और वह जनताके हितके लिये राज्य करता था। हिन्दुओंके महाभारतमें राजा वेण और पृथुकी कथासे यही प्रकट होता है।[1] स्वयं ऋग्वेदमें 'समिति' और 'परिषद' शब्दोंका उल्लेख मिलता है; जिससे स्पष्ट है कि प्रजासत्तात्मक राज्यकी नींव वैदिककालमें ही पड़ चुकी थी।[2] यद्यपि मानना पड़ता है कि उस समयकी प्रजा स्वाधीन राजाओंके ही आधीन थी। जाहिरा ऋग्वेदमें ऐसा कोई उल्लेख स्पष्ट रीतिसे नहीं है कि जिससे किसी अन्य प्रकारकी राज्य व्यवस्थाका अस्तित्त्व प्रमाणित होसके। ऋग्वेदमें अनेक स्थलोंपर 'राजन्' रूपमें एक नृपका उल्लेख मिलता है और यह राज्य प्रणाली अवश्य वंशपरम्परामें क्रमशः चली आरही थी। राजा होना तबके राजाओंका मौरुसी हक था, किन्तु वह पूर्ण स्वाधीन भी नहीं थे कि मनमाने अत्याचार कर सकें, क्योंकि ऐसा करनेमें उनके मार्गमें समिति या सभाके सदस्य आड़े आते थे।'[3] इस कारण यह मानना ही पड़ता है कि प्रजासत्तात्मक राज्यके बीज भारतमें ऋग्वेदके जमानेसे ही बो दिये गये थे। जैन शास्त्र भी सर्व प्रथम राजाओंका साधारण जनतामेंसे चुना जाना ही बतलाते हैं।[4] अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं, यदि भगवान पार्श्वनाथजीके समयमें भी दोनों तरहके राज्योंका अस्तित्त्व किसी न किसी रूपमें मौजूद हो।

१. महाभारत शांतिपर्व ६०।९४। २. समक्षत्री ट्राइब्स ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया पृ० ९९। ३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० ९४। ४. आदिपुराण अ० १६।२४१-२७५।

बौद्ध साहित्यपर जब दृष्टि डाली जाती है तो वहांपर म० बुद्धके पहलेसे सोलह राज्योंका अस्तित्त्व भारतवर्षमें मिलता है। बेशक म० बुद्धके जीवनकालमें भी इन सोलह राज्योंका और इनके साथ अन्य प्रजासत्तात्मक राजाओंका अस्तित्व मिलता है; परन्तु ऐसी बहुतसी बातें हैं जो इन सोलह राज्योंका अस्तित्व म० बुद्धसे पहलेका प्रमाणित करती हैं। म० बुद्धके जीवनमें कौशलका अधिकार काशीपर होगया था; अङ्गपर मगधाधिपने अधिकार जमा लिया था और अस्सक लोग संभवतः अवन्तीके आधीन होगये थे, किंतु उपरोक्त सोलह राज्योंमें ये तीनों ही देश स्वाधीन लिखे गये हैं। इसीलिए इनका अस्तित्व बौद्ध धर्मकी उत्पत्तिके पहलेसे मानना ही ठीक है। यह बात दीघनिकाय (२–२३५) और महावस्तु (३। २०८–२०९)के उल्लेखोंसे भी प्रमाणित है; जिनमें बौद्ध धर्मके पहले केवल सात मुख्य देशों अर्थात् (१) कलिंग, (२) अस्सक, (३) अवन्ती, (४) सौवीर, (५) विदेह, (६) अङ्ग और (७) काशीका नामोल्लेख है। इसमें भी कलिङ्गके साथ अस्सक, अङ्ग और काशीका उल्लेख स्वतंत्र रूपमें है। इस अवस्थामें कहना होगा कि भगवान पार्श्वनाथजीके समयसे ही सोलहराज्योंका अस्तित्व भारतमें मौजूद था।[1]

इस प्रकारकी राजव्यवस्थाके दर्शन हमें भगवान पार्श्वनाथके समयमें होते है और उस समयकी सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितिका दिग्दर्शन करके आइए पाठकगण, एक नजर तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर भी डाल लें।

१. कम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० १७३।

(७)

तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति !

" कश्चिद्विप्रसुतो वेदाभ्यासहेतोः परिभ्रमन्।
देशांतराणि पाखंडिदेवतातीर्थजातिभिः ॥ ४६६ ॥
लोकेन च विमुह्याकुलीभूतस्तत्प्रशंसनं।
तदाचारितमत्त्युच्चैरनुतिष्ठन्नयेच्छया ॥ ४६७ ॥ "

—उत्तरपुराण।

एक मनुष्य आकुल व्याकुल हुआ दृष्टि पड़ रहा है। कपिरोमा बेलके पत्ते अब भी उसके हाथमें हैं। वह रह रहकर अपने सारे शरीरको खुजालता है। खुजलीके मारे वह घबड़ाया हुआ है। देखनेमें सुडौल—सौम्य—युवा है। उसका उन्नत भाल चन्दन चर्चित है। सचमुच ही वह एक ब्राह्मण पुत्र है, परन्तु इसतरह यह बावला क्यों बन रहा है? कपिरोमा बेलके पत्ते इसके हाथमें क्यों हैं? रहरहकर अपनी देहको वह क्यों खुजला रहा है और खिजाई हुई दृष्टिसे वह अपने साथीकी ओर क्यों घूर रहा है?

इन सब प्रश्नोंका ठीक उत्तर पानेके लिये, पाठकगण जरा भगवान महावीरजीके समवशरणके दृश्यका अनुभव कीजिए। अनुपम गंधकुटीमें सर्वज्ञ भगवान अंतरीक्ष विराजमान थे। भूत, भविष्यत्, वर्तमानका चराचर ज्ञान उनको हस्तामलकवत् दर्शता था। सामने रक्खे हुये दर्पणमें ज्यों प्रतिबिम्ब साफ दिखाई पड़ता है उसी तरह परमहितू—रागद्वेष रहित—वीतराग भगवानके ज्ञानरूपी दर्पणमें तीनों लोकका त्रिकालवर्ती बिम्ब स्पष्ट नजर पड़ रहा था! कोई बात ऐसी न थी जो वहां शेष रही हो। उन

परमयोगी—साक्षात् परमात्माके निकट सब जीव मोदभावको धारण किये हुये बैठे थे। देव, मनुष्य, तिर्यंच सब ही वहांपर तिष्ठे भगवानके उपदेशको सुनकर अपना आत्मकल्याण कर रहे थे। भगवानके मुख्य शिष्य—प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम एवं अन्य मुनिराज और आर्यिकाएँ भी वहां विराजमान थे। मनुष्योंके कोठेमें उस समयके प्रख्यात् सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार भी बैठे हुये थे। उनके निकट उनका विद्वान् और यशस्वी पुत्र अभयकुमार बैठा हुआ था।

यही सुंदर राजकुमार विनम्र हो खड़ा होगया है—परमगुरूको नमस्कार करके दोनों करोंको जोड़े हुये निवेदन कर रहा है। वह अपने पूर्वभवोंको जाननेका इच्छुक है। दयागंभीर गणधर महाराज भी इसके अनुग्रहको न टाल सके। वे भगवान महावीरकी दिव्य-वाणीके अनुरूप कहने लगे कि "इससे तीसरे भवमें तू भव्य होकर भी बुद्धिहीन था। तू किसी ब्राह्मणका पुत्र था और वेद पढ़नेके लिए अनेक देशोंमें इधर उधर घूमता फिरता था। पाखंड-मूढ़ता, देवमूढ़ता, तीर्थमूढ़ता और जातिमूढ़तासे सबको विमोहित कर बहुत ही आकुलित होता था तथा उन्हींकी प्रशंसाके लिये उन्हीं कामोंको अच्छी तरह करता था। किसी एक समय वह दूसरी जगह जा रहा था। उसके मार्गमें कोई जैनी पथिक भी जा रहा था। मार्गमें पत्थरोंके ढेरके पास एक भूतोंका निवासस्थान पेड़ था। उसके समीप जाकर और उसे अपना देव समझकर बड़ी भक्तिसे उस ब्राह्मणपुत्रने उसकी प्रदक्षिणा दी और प्रणाम किया। उसकी इस चेष्टाको देखकर वह श्रावक हंसने लगा। तथा उसकी

अवज्ञा करनेके लिए उस वृक्षके कुछ पत्ते तोड़कर मींडकर अपने पैरकी धूलसे लगा लिये और उस ब्राह्मणसे कहा कि देख, तेरा देव जैनियोंका अनिष्ट करनेमें बिल्कुल समर्थ नहीं है। इसके उत्तरमें उस ब्राह्मणने कहा कि अच्छा ऐसा ही सही, इसमें हानि ही क्या है? मैं भी तेरे देवका तिरस्कार कर सकता हूं। इस विषयमें तू मेरा गुरु ही सही! इसतरह कहकर वे दोनों एक देशमें जा पहुंचे। वहांपर कपिरोमा नामकी बेलके बहुतसे वृक्ष थे। उन्हें देखकर वह श्रावक कहने लगा कि देखो यह हमारा देव है और यह कहकर उसने बड़ी भक्तिसे प्रदक्षिणा दी और नमस्कार कर अलग खड़ा होगया। वह ब्राह्मण पहलेसे क्रोध करही रहा था, इसलिए उसने भी हाथसे उसके पत्ते तोड़े और मसलकर सब जगह लगा दिये, परन्तु वे खुजली करनेवाले पत्ते थे इसलिये लगाते ही उसे असह्य खुजलीकी बाधा होने लगी तथा वह डर गया और श्रावकसे कहने लगा कि इसमें अवश्य ही तेरा देव है। तब हंसता हुआ श्रावक कहने लगा कि इस संसारमें जीवोंको सुखदुखका देनेवाला पहिले किये हुये कर्मोंके सिवाय और कुछ नहीं है—कर्म ही इसके मूलकारण हैं। इसलिये तप, दान, आदि सत्कार्यों द्वारा तू अपना कल्याण करनेके लिए प्रयत्न कर और इस प्रकारकी देवमूढ़ताको कि देवता ही सब करते हैं निकाल फेंक। बादको वह फिर कहने लगा कि जो मनुष्य पुण्यवान हैं उनके देवलोग स्वयं आकर सहायक होजाते हैं। पुण्यरूपी कंकणके रहते हुये देव कुछ हानि नहीं कर सके। इस प्रकार समझाकर अनुक्रमसे उसकी देवमूढ़ता दूर की।"[1]

१—श्रीगुणाभद्राचार्य प्रणीत 'उत्तरपुराण"का पं० लालाराम कृत हिन्दी

पाठकगण, जिस व्यक्तिके विषयमें हम प्रारम्भमें कितने ही प्रश्न कर आए हैं, उसका सम्बन्ध गणधर भगवान द्वारा बतलाई गई उक्त घटनासे है । भगवान महावीरस्वामीके समयके अभयकुमारका जीव ही अपने पहलेके तीसरे भवमें ब्राह्मणपुत्र था। उसीका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं । अभयकुमारका यह तीसरा भव भगवान पार्श्वनाथके जन्मकालसे पहले हुआ समझना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मणभवसे वह स्वर्ग गया था और स्वर्गसे आकर अभयकुमार हुआ था । इस प्रकार अभयकुमारके उपरोक्त पूर्वभव वर्णनमें हमें भग-

---

अनुवादसे । मूल श्लोक परिच्छेदके प्रारंभमें दिये हुओंको छोड़कर इस प्रकार हैं:-

"तदनुग्रहबुध्यैवमाहासौ भव्यवत्सलः : इतो भवात्तृतीयेत्र भवे भव्योपि स कुधीः ॥४६५॥ केनचित्पथिकोनामा जैनेन पथस व्रजन् । पाषाणराशिसंलक्ष्यभूताधिष्ठित भूरूहः ॥ ४६८ ॥ समीपं प्राप्य भक्त्यातो देवमेतदिति द्रुतं । परीत्य प्राणमद् दृष्ट्वा तच्चेष्टां श्रावकः स्मिती ॥४६९॥ तस्यावमितिविध्यर्थं तद्द्रुमादात्तपल्लवैः । परिमृज्य स्वपादाक्तधूलिं ते पश्य देवता ॥४७०॥ नार्हतानां विघाताय समर्थेत्य वदद् द्विजं । विप्रेणानु तथैवास्तु को दोषस्तव देवतां ॥४७१॥ परिभूतपदं नेष्याम्युपाध्यायस्त्वमत्रमे । इत्युक्तस्तेन तस्मात्स प्रदेशांतरमाप्तवान् ॥४७२॥ श्रावकः कपिरोमाख्यवल्लीजालं समीक्ष्य मे । देवमेतदिति व्यक्तमुक्त्वा भक्त्या परीत्य तत् ॥४७३॥ प्रणम्य स्थितवान् विप्रोप्याविष्कृतरुपोत्युकः । कराभ्यां तत्समुच्छिदन् विमृदंश्चसमंततः ॥४७४॥ तत्कृतासह्यकंडूकाविशेषेणातिवाधितः । एतत्सन्निहितं देवं त्वदीयमिति भीतवान ॥४७५॥ सहासो विद्यते नान्यद्विधात् सुखदुःखयोः । प्राणिनां प्राक्तनं कर्म मुक्त्वास्मिन्मूलकारणं ॥ ४७६ ॥ श्रेयो वाप्तुं ततो यत्न तपोदानादि कर्मभिः । कुरुत्वमिति तन्मौढ्य हित्वा दैवं निवंधनं ॥४७७॥ देवाः खलु सहायत्व यांति पुण्यवतां नृणां । तके किंचित्कराः पुण्यवलये भृत्यसन्निभाः ॥४७८॥ इत्युक्त्वास्तद्विजोद्भूतदेवमौढ्यस्ततः क्रमात् ।......

वान पार्श्वनाथके समय, बल्कि उसके पहलेसे स्थित धार्मिक वातावरणके दर्शन होते हैं। इसी महत्वको दृष्टिकोण करके यह कथा यहांपर दी गई है। इस कथाके अबतकके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि उस समय देवमूढ़ता, तीर्थमूढ़ता आदिका विशेष प्रचार था। दूसरे शब्दोंमें ब्राह्मण लोगोंका प्राबल्य अधिक था। देवमूढ़ता यहांतक बढ़ी हुई थी कि लोग भूत, यक्षादिका वास पेड़ोंपर मानकर उनकी पूजा करते थे, उनको अपना देव मानते थे। यही कारण है कि उक्त कथामें श्रावकके कपिरोमा बेलको अपना देव बतानेपर ब्राह्मणपुत्रने कुछ भी आगापीछा न सोचा और उसके कहनेपर विश्वास कर लिया! साथ ही वेदानुयायियोंने जो देव—ईश्वरको सुखदुखका दाता घोषित किया था, उसका भी इस समय प्रचार था, यह भी इस कथासे स्पष्ट है।

संभव है कतिपय पाठकगण, जैन कथाके उक्त विवरणको विश्वासभरे नेत्रोंसे न देखें, उनके लिये हम अन्य श्रोतोंसे जैनकथाके विवरणकी स्पष्टवादिताको प्रकट करेंगे। बौद्ध श्रोतोंका अध्ययन करके स्व० मि० ह्रीस डेविड्स इसी निष्कर्षको पहुंचे थे कि बुद्धके समयमें पहलेसे चली आई हुई पेडोंकी पूजा भी प्रचलित थी। उन्हीं पेड़ोंके नामके चैत्य आदि भी बने हुये थे।[1] एक अन्य विद्वान् भगवान महावीर और म० बुद्धके समयकी धार्मिक स्थितिके विषयमें लिखते हुए लिखते हैं कि "पहले यहां एक प्राक्-

---

१–बुद्धिस्ट इन्डिया और 'डॉयलॉग्स ऑफ दी बुद्ध' भाग २ पृ० ११० फुटनोट तथा मि० आर० पी० चन्दाकी मेडीविल स्कल्पचर इन ईस्टर्न इन्डिया, Cal. Univ. Journal (Arts), Vol. III.

तिक धर्म था जो बादमें हिन्दूधर्म या ब्राह्मण धर्मके नामसे ज्ञात हुआ। इस धर्ममें बहुत प्राचीन मनुष्योंकी मानतायें, पित्र-जनोंकी पूजा, क्रियाकांड, प्रचलित पौराणिक वाद आदि गर्भित थे। यह बिल्कुल ही प्रकृति (Nature) की पूजाका धर्म था। और जबतक मनुष्य चुपचाप प्राचीन रीतियोंको मानते हुए रहे तबतक इस बातकी किसीको फिकर ही न हुई कि सैद्धान्तिक मन्तव्य किसके क्या हैं?"[1] इसतरह इससे भी यह बात प्रकट है कि पहले यहां वृक्ष जल आदि प्राकृतिक वस्तुओंकी पूजा भी प्रचलित थी। परन्तु तब यहां क्या केवल यही एक धर्म था, इसके लिए इस उक्त विद्वान्के कथनको नजरमें रखते हुए हम अगाड़ी विवेचन करेंगे। यहांपर उपरोक्त जैन कथाके शेष भागको देखकर हम उस समयके धार्मिक वातावरणके जो और दर्शन होते हैं, वह देख लेना उचित समझते हैं।

उक्त जैन कथामें अगाड़ी कहा गया है कि "वह श्रावक उस ब्राह्मणके साथ गंगानदीके किनारे गया। भूख लगनेपर उस नदीके जलको मणिगंगा नामका उत्तम तीर्थ समझकर स्नान किया और इसतरह तीर्थमूढताका काम किया। तदनंतर जब वह ब्राह्मण खानेकी इच्छा करने लगा तब श्रावकने पहले खाकर उस बचे हुये उच्छिष्ट भोजनमें गंगानदीका वही पानी मिलाकर उस ब्राह्मणको दिया और हित बतलानेके लिये कहा कि गंगाका जल मिलजानेसे यह भोजन पवित्र है इसे खाओ। उसे देखकर वह ब्राह्मण कहने लगा कि तेरा उच्छिष्ट भोजन मैं कैसे खाऊं, तब उस श्रावकने

१-दी हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० ३६५.

कहा कि तू जो इसतरह कह रहा है सो तुझे क्या मालूम नहीं है कि इसमें गंगाका जल मिला हुआ है। यदि यह गंगाजल इस भोजनके उच्छिष्ट दोषको भी दूर नहीं कर सक्ता तो फिर इन तीर्थोंके जलसे पापरूपी मल किसतरह दूर होसक्ता है। इसलिये तू अपने मूढ़ चित्तसे इन निर्मूल विचारोंको निकाल दे। यदि जलसे ही बुरी वासनाओंके पाप दूर होजांय तो फिर तप दान आदि अनुष्ठानोंका करना व्यर्थ ही होजायगा। सबलोग जलसे ही पाप दूर कर लिया करें क्योंकि जल सब जगह सुलभ रीतिसे मिलता है। मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय इससे पापकर्मोंका बंध होता है और सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र तपसे पुण्य कर्मोंका बंध होता है। तथा अंतमें इन्हीं चारोंसे मोक्ष होती है। इसलिये अब तू श्री जिनेन्द्रदेवका मत स्वीकार कर," इसप्रकार श्रावकने कहा।

उस श्रावकका यह उपदेश सुनकर उस ब्राह्मणने तीर्थमूढ़ता भी छोड़ दी। इसके बाद वहींपर एक तपस्वी पांच अग्नियोंके मध्यमें बैठकर दुःस्सह तप कर रहा था। जलती हुई अग्निमें छहों प्रकारके जीवोंका निरंतर घात होरहा था और वह प्रत्यक्ष जान पड़ता था। उस श्रावकने उस तपस्वीको माननेकी पाखंडि मूढ़ता भी बड़ी युक्तियोंसे दूर की।...इसके बाद वह श्रावक फिर कहने लगा 'कि इस वट्वृक्षपर कुबेर रहता है, ऐसी बातोंपर श्रद्धान रखकर राजालोग भी उसके योग्य आचरण करने लग जाते हैं अर्थात् पूजने लग जाते हैं। क्या वे जानते नहीं कि लोकका यह बड़ा भारी प्रसिद्ध हुआ मार्ग छोड़ा नहीं जा सकता' इत्यादि ऐसे लोकप्रसिद्ध बचनोंको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे

वचन सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रके बाहर हैं और मदोन्मत्त पुरुषके वाक्यके समान हैं। इस प्रकार समझाकर उसने उसकी लोकमूढ़ता भी दूर की।"[1]

अगाड़ी 'सांख्य' और 'मीमांसक' मतका निर्सन करते हुये हेतुवादसे आप्तकी सिद्धिको भी उक्त कथामें प्रमाणित किया गया है।[2] इस तरह उक्त विवरणसे उस समय गंगानदीमें पुण्यहेतु स्नान करना, पंचाग्नि आदि रूप मूढ़ तपको साधन करना, यक्ष-कुबेर

१-उत्तरपुराण पृष्ठ ६२५-६२६। मूल श्लोक ये हैं:-

"श्रावकस्तेन विप्रेण गंगातीरं समागमत् ॥४७९॥ बुभुक्षुस्तत्र विप्रोसौ मणिगंगाख्यमुत्तमं। तीर्थमेतदिति स्नात्वा तीर्थमूढं समागमत् ॥ ४८० ॥ अथास्मै भोक्तुकामाय भुक्त्वा स श्रावकः स्वयं! स्वोच्छिष्टं सुरसिंध्वंबुमिश्रितं पावनं त्वया ॥४८१॥ भोक्तव्यमिति विप्राय ददौ ज्ञापयितुं हितुं। तं दृष्ट्वाहं कथ भुंजे तवोच्छिष्टं विशिष्टतां॥ ४८२ ॥ किं न वेत्सि मयैव त्वं वक्तेति स तमब्रवीत्। कथं तीर्थजलं पापमलापनयने क्षमं ॥४८३॥ यद्यद्योच्छिष्टदोषं चेन्नापनेतुं समीहते। ततो निर्हेतुकामेतां प्रध्येयां मुग्धचेतसां ॥४८४॥ त्यज दुर्वासनापापं प्रक्षाल्यमिति वारिणा। तथैवं चेत्तपोदानाद्यनुष्ठानेन किं वृथा ॥४८५॥ तेनैव पापं प्रक्षाल्यं सर्वत्र सुलभं जलं। मिथ्यात्वादिचतुष्केण बध्यते पापमूर्जितं ॥४८६॥ सम्यक्त्वादिचतुष्केरण पुण्यं प्रांते च निर्वृतिः। एतज्जैनेश्वरं तत्त्वं गृहणित्यवदत्पुनः ॥ ४८७ ॥ श्रुत्वा तद्वचनं विप्रस्तीर्थमौढ्यं निराकरोत्। अथ तत्रैव पंचाग्निमध्येन्यैर्दुस्सहं तपः ॥४८८॥ कुर्वतस्तापसस्योच्चैः प्रज्वलद्वन्हिसंहतौ। व्यंजयत्प्राणिनां घातं षड्भेदानामनारतं ॥४८९॥ वटेस्मिन खलु वित्तेशो वसतीत्येवमादिकं ॥४९६॥ वाक्यंश्रद्धाय तद्योग्यमाचरंतो महीभुजः। किन्न जानंति लोकस्य मार्गोयं प्रथितो महान् ॥४९७॥ न त्यक्तुं शौक्य इत्यादि न ग्राह्यं लौकिकं वचः। आप्तोक्तागम बाह्यत्वान्मदोन्मतवाक्यवत् ॥४९९॥

२-उत्तरपुराण ४९९-५०६।

आदिकी पूजाका प्रचलित होना प्रगट होता है। आजसे करीब दो हजार वर्ष पहलेके लिखे हुये बौद्ध शास्त्रोंसे भी उस समय गंगा-स्नान ब्राह्मणोंके निकट धर्मकार्य था यह प्रकट है।[1] इसी तरह पंचाग्नि आदि कुतपमें लीन तापस लोग उस समय मौजूद थे, यह भी आज सर्व प्रकट है। ब्राह्मणोंके 'बृहद् आरण्यक उपनिषद्' (४।३।२२) में 'श्रमण और तापसों' का उल्लेख है। श्रमण वे लोग थे जो वेदविरोधी थे और यह मालूम ही है कि यह शब्द मुख्यतः जैन और बौद्ध साधुओंके लिए व्यवहृत होता था। इसलिये उस समय जैन श्रमण होना ही संभाव्य है। और इस अवस्थामें उक्त प्रकार श्रमणभक्त श्रावकका ब्राह्मणपुत्रको मिथ्यात्व छुटानेकी उपरोक्त कथा ऐतिहासिक सत्यको लिए हुए प्रतीत होती है। तापस लोग वेदानुयायी थे और वे मुख्यतः विविध वैदिक मत-मतान्तरोंमें विभक्त थे। हमें उनके विषयमें बतलाया गया है कि "वे नगरोंके निकट अवस्थित जंगलोंमें विविध दार्शनिक मतोंके अनुयायी होकर साधुजीवन व्यतीत करते रहते थे। वे अपना समय अपने मतकी क्रियायोंके अनुकूल विताते थे अर्थात् या तो वे ध्यानमग्न रहते थे, अथवा यज्ञादि करते थे, या हठयोगमें लीन रहते थे अथवा अपने मतके सूत्रोंके पठनपाठनमें व्यस्त होते थे। उनका अधिक समय भोजनके लिए फलों और कन्दमूलोंके इकट्ठे करनेमें बीतता था।"[2] इस प्रकार उस समयके तापसोंका स्वरूप था। तथापि उस समय यक्षादिकी पूजा भी प्रचलित थी, यह बात भी

१-बुद्धजीवन (S. B. E. XIX) पृ० १३१-१४२ १४३।
२-बुधिस्ट इन्डिया पृ० १४०-१४१।

हमें यथार्थताको लिए हुए प्रकट होती है । जब हम देखते हैं कि भगवान महावीर अथवा म० बुद्धके जन्मकालमें बहुतसे यक्षमंदिर आदि मौजूद थे । वैशालीके आसपास ऐसे कितने ही चैत्यमंदिर थे । यह चैत्य चापाल, सप्ताम्रक, बहुपुत्र, गौतम, कपिनह्य, मर्कट-ह्रदतीर आदि नामसे विख्यात थे ।[1] बौद्ध लेखक बुद्धघोष अपनी 'महापरिनिब्बाण सुत्तन्तकी टीकामें 'चैत्यानि' को 'यक्षचैत्यानि' रूपमें बतलाते हैं । और 'सारन्ददचैत्य'के विषयमें कहते हैं, जहां कि बुद्धने धर्मोपदेश दिया था, कि 'यह वह विहार था जो यक्ष सारन्दरके पुराने मंदिरके उजड़े स्थानपर बनाया गया था ।[2] इस-तरह उस समय यक्षादिकी पूजाका प्रचलित होना भी स्पष्ट व्यक्त है । लिच्छवि क्षत्रिय राजकुमारोंके इनकी मान्यता थी, यह भी प्रकट है ।[3] अब रही बात हेतुवादसे आप्तकी सिद्धि करनेकी सो यह भी बौद्ध शास्त्रोंसे प्रमाणित है कि उस समय ऐसे साधुलोग विद्यमान थे जो हेतुवादसे अपने मन्तव्योंकी सिद्धि करते थे और वर्षभरमें अधिक दिन वाद करनेमें ही विताते थे ।[4] इसप्रकार उप-रोल्लिखित जैन कथाद्वारा जो भगवान पार्श्वनाथके समयके धार्मिक वातावरणका परिचय हमें मिलता है, वह प्रायः ठीक ही विदित होता है और हमें उस समयकी धार्मिक परिस्थितिके करीब२ स्पष्ट दर्शन होजाते हैं । इस धार्मिक स्थितिका दर्शन करते हुए आइए

१–डॉयलॉग्स ऑफ दी बुद्ध भाग ३ पृ० १४ और दिव्यावदान् पृ० २०१ । २–पूर्व पुस्तक भाग २ पृ० ८० नोट–२–३ । ३–दी क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० ७९–८२ । ४–बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० १४१– वितंडा, तर्क, न्याय, मीमांसा बताए हैं ।

पाठकगण इससे पूर्वकी धार्मिक दशाका भी परिचय प्राप्त करलें जिससे इसका और भी स्पष्ट दृश्य प्रगट होजाय और पूर्वोल्लिखित विद्वान्के वर्णनक्रमका दिग्दर्शन प्राप्त होजाय।

डॉ० वेनीमाधव बारुआने अपनी 'ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी' नामक पुस्तकमें हमें भारतके धार्मिक विकाशका अच्छा दिग्दर्शन कराया है। आपने पहले ही वेदोंके ऋषियोंको प्राकृत-धर्म (Natural) निरूपण करनेवाला बतलाया है और आपकी दृष्टिकोणसे वह प्रायः ठीक है। परन्तु यदि हम वेदोंके मंत्रोंको शब्दार्थमें ग्रहण न करें और उन्हें अलंकृत भाषाके आत्मा संबंधी राग ही मानें, तो भी उनका अर्थ और अधिक स्पष्टतःसे ठीक बैठ जाता है। यह वैदिक ऋषिगण 'कवि' नामसे परिचित भी हुए हैं।[1] तथापि यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन भारतमें अलंकृत भाषाका व्यवहार होता था।[2] और हिन्दुओंके वेद उस भाषासे अलग किसी दूसरी भाषामें नहीं लिखे गये हैं।[3] इस दशामें उनको शब्दार्थमें ग्रहण करना कुछ ठीक नहीं जंचता है। जैन शास्त्रोंमें यह स्वीकार किया गया है कि स्वयं भगवान ऋषभदेवके समयसे ही पाखण्डमतोंकी उत्पत्ति मारीचि द्वारा होगई थी।[4] और इधर वेद भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि उनके

१-ऋग्वेद १।१६४,६; १०।१२९,४। २-हिन्दी विश्वकोष भाग १ पृष्ठ ६०-६७। ३-मि० एय्यरने अपनी "दी परमानेन्ट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष"में यही व्यक्त किया है तथापि वि०वा० पं० चम्पतरायजीने 'असहमतसंगम' आदि ग्रंथोंमें यही प्रकट किया है। स्वयं हिन्दू ऋषि 'आत्मरामायण' के कर्त्ताने भी इस व्याख्याको स्पष्ट कर दिया है। ये ग्रंथ देखना चाहिए। ४-आदिपुराण पर्व १८-१९-२०। ३-२१७।

साथ २ उनका विरोधी मत भी कोई मौजूद था ।[१] अतएव वेदोंको शब्दार्थमें ग्रहण करके और फिर उनसे ही उपरान्त जैन, बौद्ध आदि धर्मोंकी उत्पत्ति मानना कुछ ठीक नहीं जंचता है । जबकि जैनधर्म हिन्दूधर्मके समान ही प्राचीनतम धर्म होनेका दावा करता है, जिसका समर्थन हिन्दूओंके पुराण ग्रंथ भी करते हैं ।[२] तिसपर स्वयं ऋग्वेदमें जो 'प्रजापति परमेष्ठिन्' के मन्तव्योंका विवेचन किया गया है, उनसे इस विषयकी पुष्टि होती प्रतीत होती है, यदि हम उन्हें शब्दार्थमें ग्रहण न करें । परमेष्टिन्की मान्यता द्वैधरूप (Dynamistic) और संशयात्मक (Sceptic) कही गई है ।[3] इसी तरह भगवान महावीरके धर्मको भी द्वैधरूप (Dynamistic) और स्याद्वादात्मक कहा है;[४] जो परमेष्ठिनकी मान्यतासे सादृश्यता रखता है । तिसपर स्वयं 'परमेष्ठिन्' शब्द ही खास जैनियोंका है । जैनधर्मके पूज्य देव—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—पंच 'परमेष्ठी' के नामसे विख्यात् हैं । इतर धर्मोंमें इस शब्दका व्यवहार इस तरहसे किया हुआ प्रायः नहीं ही मिलता है । इस कारण संभव है कि जैनधर्मके सिद्धान्तको व्यक्त करनेके लिए अथवा उसी ढंगको बतानेके वास्ते ' प्रजापति परमेष्टी ' के मंत्रोंका समावेश ऋग्वेदमें किया गया है । 'प्रजापति' शब्दसे यदि स्यवं भगवान ऋषभदेवका अभिप्राय हो तोभी कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि कर्मयुगके प्रारम्भमें प्रजाकी सृष्टि करने और उसकी रक्षाके उपाय बतानेकी अपेक्षा वे 'प्रजापति' नामसे भी उल्लिखित हुए हैं ।[५]

१—ऋग्वेद १०।१३६ । २—भागवत ५ । ४, ५, ६, तथा विष्णुपुराण पृ० १०४ । ३—ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसफी पृ० १५ । ४—पूर्व पृष्ठ ३६२ । ५—जिनसहस्रनाम अ० २ श्लो० ३ ।

इसतरह जाहिरा हमें इन मंत्रोंसे जैनधर्मका संबंध झलक जाता है।

अब जरा इनके मंत्रोंको भावार्थमें ग्रहण करके देख लीजिए कि वह क्या बतलाते हैं ? इनके मन्तव्य ऋग्वेद मंत्र १०।१२९ में दिये हुये हैं। पर हम यहांपर मि० बारुआके उल्लेखोंके अनुसार विचार करेंगे। सबसे ही पहले परमेष्टिन्‌ने जो 'सिद्धान्त' (Philosophy) का स्वरूप बतलाया है, वह दृष्टव्य है। वे कहते हैं कि 'सिद्धान्त कवियोंकी आभ्यन्तरिक खोजका परिणाम है जो वे सत्तात्मक और असत्तात्मक वस्तुओंके पारस्परिक सम्बन्धको अपने विचार द्वारा जाननेके लिये करते हैं।'[1] जैनधर्ममें भी सिद्धान्तके स्वरूपको ऐसे ही स्वीकार किया गया है। वहां सिद्धान्तकी उत्पत्ति ऋषभदेव द्वारा ध्यानमग्न होकर विचार–तारतम्यकी परमोच्च सीमामें–केवली दशामें पहुंच करके होनेका उल्लेख है। वहां सिद्धान्तको किसी परोक्ष ईश्वर आदिकी कृति नहीं मानी है, बल्कि यही कहा है कि मनुष्य जब ध्यानद्वारा अपनी विचार–दृष्टिको बिल्कुल निर्मल बना लेता है तब उसके द्वारा सैद्धान्तिक विवेचन प्राकृतरूपमें होता है। परमेष्टिन्‌का भी भाव यही है; यद्यपि वह पूर्ण स्पष्ट नहीं है।

प्रजापति परमेष्टिनके समयमें कहा गया है कि दो तरहके

१–प्री-बुद्धिस्टिक इन्ड० फिला० पृष्ट ६–" Prajāpati Parmesthin seems to speak of philosophy as search carried on by the Poets within their heart for discovering in the light of their thought the relation of existing things to the non-existent. (Rig. X. 192, 4 सतोबंधून असति).

मत प्रचलित थे । एकका कहना था कि 'व्यक्ति' (Being) की उत्पत्ति 'अ-व्यक्ति' (Non-Being) मेंसे हुई है । दूसरा कहता था कि 'व्यक्ति' (Being) व्यक्तिमेंसे ही उत्पन्न होसक्ता है।[1] इन दोनोंके बीचमें प्रजापतिने मध्यका मार्ग ग्रहण किया था, यह कहा गया । उनके निकट 'मुख्य वस्तु' का समावेश न व्यक्तिमें था और न अव्यक्तिमें। (For him the original matter comes neither under the definition of Being nor that of non-Being.)[2] प्रजापतिने समझानेके लिए पानी (सलिल) को मुख्य माना था । उनका कहना था कि पानीसे ही सब वस्तुएं बनी हैं; सब सत्तात्मक वस्तुओंकी मूल द्रव्य पानी है । इसके अगाड़ी उन्होंने और कुछ न बतलाया और इसी अपेक्षा उनका मत संशयात्मक माना गया है। [3] उनके निकट गहन-गंभीर पानी ही सब कुछ था और वह भी क्या था ? वह एक वस्तु थी जो स्वास रहित पर अपने ही स्वभावमें स्वासपूर्ण थी । (आनीदवातं स्वधयातद एकम्, तस्माद्धान्यन् न परः किञ्चन नास ")[4] वह अमूर्तिक भी थी । (ऋग्वेद १०।१२९,९) अंधकार (तमस) भी था और इस तमस-अंधकारमें पहले 'पानी' अपने अव्यक्तरूप (अप्रकेतम्) में छुपा हुआ था।पानी ही वह था जो सत्तामें था। (सर्वम इदं।)[5] पानी यहांपर सिवाय आत्मद्रव्यके और कुछ न था। संसारमें आत्माको 'पानी' के नामसे संज्ञित करना ठीक भी है,

---

१-१ हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध० इन्ड० फिला० पृष्ठ १२ । २-पूर्व प्रमाण । ३. पूर्व पृ० १२ ४. पूर्व पृ० १३-" Water was that one thing, breathless, breathed by its own nature. ५-पूर्व पृष्ठ १३।

क्योंकि पानी एक मिश्रितरूप है और संसारमें आत्मा भी अज्ञानसे वेष्टित संयुक्तावस्थामें है; यद्यपि मूलमें वह अपने स्वभाव कर ही जीवित है अर्थात् अपने स्वभावसे वह अब भी च्युत नहीं हुआ है। और अमूर्तीक ही है। वही अपना संसार अपने आप बनाता है इस कारण सब वस्तुओंका कर्ता भी वही है। इसप्रकार प्रजापति परमेष्ठिन्‌के मन्तव्यको हम भावार्थरूपमें प्रायः जैनधर्मके समान ही पाते हैं। बल्कि जिनसेनाचार्यजी कृत 'जिनसहस्रनाम' में भगवान ऋषभदेवका स्मरण 'सलिलात्मकः' रूपसे किया हुआ मिलता है।[१] यह भी 'सलिल' के अर्थ 'आत्मा' की पुष्टि करता है, क्योंकि ऋषभदेव परमात्मा रूपमें ग्रहण किये गये हैं और परमात्मा एवं आत्मामें मूलमें कुछ अन्तर नहीं है। अस्तु;

प्रजापतिने पुद्गल (Matter) और मुख्य शक्ति—आत्मा (Motive power) में यहांपर कोई भेद भी न बताया,[२] इसका कारण यही है कि वह पहले ही आत्माको 'पानी' मानकर इस भेदको प्रकट कर चुके थे। 'व्यक्ति' उनके निकट 'पर्याय' ही थी।[३] 'पानी' अर्थात् आत्माकी पर्याय—पलटन उसमें गरमाई (तपस) के कारण होती थी।[४] यह गरमाई जैनदृष्टिसे 'विभाव' कही जासक्ती है जिससे 'काम'की उत्पत्ति होना ठीक ही है। काम ही सांसारिक परिवर्तनमें मुख्य माना गया है, जो मनसे ही जायमान (मनसो रेतः) था। यह मन अन्ततः 'सूर्य' बतलाया गया है। जो संसारमें प्रथमजन्मा, स्व-विज्ञान और प्रत्यक्ष संसारमें व्यक्तिरूप है।[५] जैनधर्ममें भी पर्याय धारण करनेमें मुख्य कारण कामादि जनित इन्द्रियलिप्सा

१—जिनसहस्रनाम अ० ३ श्लोक ५। २—ए. हिस्ट्री० पृ० १३। ३—पूर्व पृष्ठ १४। ४—पूर्व प्रमाण। ५—पूर्वप्रमाण।

ही मानी गई है और मन एक अलग पदार्थ माना गया है जिसका खास सम्बंध आत्मासे है। उसको अन्ततः सूर्यरूप कहना कुछ गलत नहीं है, क्योंकि सूर्य आत्माकी शुद्ध दशाका द्योतक है। स्वयं ऋग्वेदमें उसे अमरपनेका स्वामी (अमितत्वष्येशानो १०–९०,३) कहा गया है। इस तरह प्रजापति परमेष्ठिन्के नामसे जो सिद्धान्त ऋग्वेदमें दिये गये हैं वह जैनधर्मसे सादृश्यता रखते हैं तथापि पहले बताये हुए नामके भेदको दृष्टिमें रखते हुये यह कहना कुछ अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि इन मंत्रोंमें वेद ऋषियोंने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित जैनधर्मका किञ्चित् विवेचन किया है। इसलिये भारतमें प्रारंभसे एक प्राकृत धर्म जो उपरान्त ब्राह्मण धर्म कहलाया केवल उसका ही अस्तित्व बतलाना ठीक नहीं है। इस एवं अन्य श्रोतोंसे यह प्रमाणित है कि भारतमें जैनधर्मका अस्तित्व वेदोंसे भी पहलेका है।[1]

वेदोंके अन्य देवी देवताओं और मानताओंका अलंकृत घूंघट 'असहमतसंगम' आदि पुस्तकोंमें अच्छी तरह खोल दिया गया है, सो अधिक वहांसे देखना चाहिए। किंतु वेदोंके 'समय'को जो हिंदुओंने ब्रह्मरूप माना गया है[2] वह ठीक है। जैनाचार्य कुन्द-कुन्दस्वामी भी 'समय'का अर्थ 'आत्मा' ही करते हैं।[3] इस तरह वेदकाल पर दृष्टि डालकर आइए पाठक डा० सा०के अनुसार अबशेष कालके वर्णनपर एक दृष्टि डाल लेवें; जिसमें भी अवश्य ही जैनधर्म यहां मौजूद रहा है।

१–जैन लॉ, परिशिष्ट २२४–२२५। २–ए हिस्ट्री० प्री० बुद्ध० फि० पूव पृष्ठ २०३। ३–समयसार पृष्ठ २।

डॉ० सा० ने वेदोंकेबाद ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण दर्शनोंका समय आता हुआ बताया है। यह काल महीदास ऐतरेयसे याज्ञवल्क्य तक माना है। इस कालमें सैद्धान्तिक विवेचनाका केन्द्र 'ब्रह्मऋषि देश'से हटकर 'मध्यदेश'में आ गया था, जो हिमालय और विन्ध्या पर्वतोंके बीचका स्थल था। यह परिवर्तन क्रमकर हुआ ही खयाल किया जा सक्ता है। इस कालमें धर्मकी विशुद्धता जाती रही और पुराण-क्रियाकाण्ड आदिका समावेश हो चला था। ललित कविताका स्थान, शुष्क गद्यने ले लिया था। इस समयके तत्वान्वेषिकोंके समक्ष यही प्रश्न था कि "मैं ब्रह्ममें कब-लीन हो सक्ता हूं।" और इसी लिए योगकी प्रधानता भी इस जमानेमें विशेष रही थी।[1] जैन शास्त्रोंमे भी भगवान शीतलनाथके समय तक अविच्छन्न रूपसे धर्मका उद्योत बने रहनेका उल्लेख है। उसी समयसे ब्राह्मणोंमें लोभकी मात्रा बढ़नेका उल्लेख किया गया है और बतलाया गया है कि उन्होंने नए शास्त्रोंकी रचना भी की थी।[2] इसकेबाद मुनिसुव्रतनाथ भगवानके समयमें वेदोंमें पशुयज्ञकी आयोजना की गई थी, यह बतलाया हैं।[3] सचमुच जैन शास्त्रोंकी यह क्रमव्यवस्था ऐतिहासिक अनुसन्धानसे प्रायः बहुत कुछ ठीक बैठ जाती है। ऊपर जो वेदोंके बाद कलिकालमें क्रियाकाण्ड आदिका बढ़ना बतलाया है वह जैन शास्त्रके वर्णनके बहुत कुछ अनुकूल है। इस अवस्थामें जैन शास्त्रोंका यह कथन भी विश्वसनीय सिद्ध होता है कि जैनधर्म भी एक प्राचीन कालसे

१-एं हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धि, इन्ड० फिला० पृष्ठ ३९। २-उत्तरपुराण पृष्ठ १००। ३-पूर्व पृष्ठ ३५१-३६०।

स्वयं ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिके पहलेसे बराबर चला आ रहा था। यह व्याख्या अन्यथा भी प्रमाणित है, यह पुनः बतलाना वृथा है।

इस कालका प्रारंभ महीदास ऐतरेयसे किया गया है; जो स्पष्टतः ऐतरेय दर्शनके मूल संस्थापक कहे जा सक्ते हैं। छान्दोग्य उपनिषद्‌में इनकी उमर ११६ वर्षकी बतलाई गई है। और यह ब्राह्मण ही थे। इनकी मांका नाम इतरा था। इसी कारण इनका दर्शन ऐतरेय कहलाया था। इनके सैद्धान्तिक विवेचनके स्पष्ट दर्शन प्रायः कहीं नहीं होते हैं। तो भी इनने लोकमें पांच द्रव्य—जल, पृथ्वीं, अग्नि, वायु और आकाश—माने थे, इन्हींसे व्यक्तिका अस्तित्व माना गया है। सृष्टिके कार्य आदिका मूल कारण इनने परमात्माको ही माना था। (ऐतरेय आरण्यक १।३।४।९) आत्माका संबंध परमात्मासे ही बतलाया था। एक स्थानपर वह उसे शरीरसे अलग नहीं बतलाते हैं परन्तु अन्यत्र प्राणोंकी स्वाधीनता स्वीकार करते हैं। (ऐतरेय आरण्यक, २।३।१।१ और २।१।८।१२-१३) इन्होंने मनुष्यके शारीरिक अवयवोंका वर्णन खासी रीतिसे किया था और असली जीवनके लिए विवाह और संतानका होना जरूरी समझा था। (ऐत० आर० १।३।४।१२-१३) पुत्रहीन पुरुषका जीवन ही, उनकी नजरोंमें कुछ नहीं था। (नापुत्रस्य लोको स्तिति) इस प्रकार महीदास ऐतरेयका मत था।[1]

इनके बाद मुख्य ब्राह्मण ऋषि गार्गायण माने गये हैं। इन्होंने कहा था कि 'जो ब्राह्मण है वही मैं हूं।' (कौषीतकि

१—ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध० इन्ड० फिला० पृष्ठ ५१-९६।

उपनिषद् १।६) और ब्राह्मण इनके निकट 'सत् था।' इनके उपरान्त प्रतरदनकी गणना की गई है। यह काशीके राजा दिवोदासके पुत्र थे। इन्होंने संयमी जीवन बितानेके लिए आंतरिक अग्निहोत्र (आन्तरम् अग्निहोत्रम्) का विधान किया था। यह वैदिक यज्ञवादका एक तरहसे सुधार ही था। प्रज्ञात्मा (Cognitive Soul) के मूल प्राणको इन्होंने संसारका पोषक, सबोंका स्वामी, शरीर रहित और अमर बतलाया था; इसलिए वह सांसारिक पुण्य-पापसे रहित था। (कोषीतकि उप० ३।९)। किसी भी व्यक्तिके किसी कार्यसे 'उसके जीवनको हानि नहीं पहुंचती है, माता, पिताके मार डालनेसे भी कुछ नहीं बिगड़ता है; न कुछ हानि चोरीसे या एक ब्राह्मणके मारनेसे होती है। यदि वह कोई पाप करता है तौभी चेहरेसे प्रकाश नहीं जाता है।' (कौ० ३०३।९) इस तरह उनकी शिक्षामें जाहिरा पुण्य-पापका लोप ही था। इनके इस सिद्धांतका विशेष आन्दोलन नचिकेत, पूरणकस्सप, पकुढकाच्चायन और भगवद्गीताके रचयिता द्वारा हुआ था।[१]

प्रतरदनके पश्चात् उद्दालक आरुणीके हाथोंसे ब्राह्मण मतमें एक उलटफेर ला उपस्थित की गई थी। उद्दालक अरुण ब्राह्मणका पुत्र और श्वेतकेतुका पिता था। इनका मत 'मन्थ' नामसे ज्ञात था, जिसमें विवाहका करना मुख्य था। जैन राजवार्तिकमें मान्थनिकोंकी गणना क्रियावादियोंमें की गई है। श्वेतांबरियोंके सूत्रकृताङ्गमें भी (१।१।१।७-९) इनके मतका उल्लेख है। इनको ज्ञानकी पिपासा उत्कट थी। इनका सैद्धान्तिक विवेचन प्रायः महीदास जैसा ही था। इन्होंने

१- पूर्व पृष्ठ १११-१२३।

पुद्गलका उल्लेख ' देवता ' के रूपमें किया था तथापि पुद्गलाणुओंका मिलना और विघटना भी स्वीकार किया था।[1]

उपरान्त वरुण द्वारा तैतरीय मतका प्रारंभ हुआ था। उद्दालकने अग्नि, जल और पृथ्वी तीन ही द्रव्य माने थे, परन्तु वरुणके निकट वह आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी थे। ब्रह्मको ही इनने मुख्य और सर्वका प्रेरक माना था। तथापि वही उनके निकट अन्तिम ध्येय भी था जिसमें स्थाई आनन्दका उपभोग था। आत्माकी क्रियाशीलताके विषयमें इनकी मान्यता महीं रखते थी मनुष्यके प्रत्येक कार्यमें आनन्दको ही इनने मुख्य माना था। मनुकि आनन्दका प्रारंभ रखना इन्द्रियसे करके वह उसका अन्त ध्यानावस्थामें करते हैं। इसमें स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदिको भी गिन लेते हैं। यह भी उनके निकट आनन्दके कारण हैं।[2]

वरुणके उपरान्त बालाकि और अजातशत्रु उल्लेखनीय हैं। बालाकि एक ब्राह्मण और याज्ञवल्क्यका समकालीन था। अजातशत्रु राजपुत्र थे और विदेहके राजा जनकके समयमें हुए थे। राजा जनक फिलासफरोंके प्रेमी व संरक्षक थे और राजा अजातशत्रु स्वयं फिलासफर थे। बालाकि और अजातशत्रुमें शास्त्रार्थ हुआ था। मुख्य विषय आत्माका स्वरूप और जगत् एवं मनुष्यमें उसका स्थान निर्णय करना था। बालाकि सूर्यमें आत्माका ध्यान करना उचित समझता था, पर अजातशत्रु उसे प्रकृति (Nature) का एक अंग ही मानता था।[3]

१-ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध० इन्ड० फिला० पृष्ठ १२४-१४०।
२-पूर्व प्रमाण पृ० १४३-१५०। ३-पूर्व० पृ० १५१-१५२।

इनके साथ ही याज्ञवल्क्यकी प्रधानता रही थी। कहा जाता है कि यह बौद्धकालसे बहुत ज्यादा पहले नहीं हुये थे। इनका 'नेति नेति' धर्म विख्यात् है। इन्हींके कारण राजा जनकका नाम चिरस्थाई होगया है। याज्ञवल्क्यके निकट आत्म-काम (Self-love) ही मुख्य था। इसहीको उनने शेष कामों (Love) का उद्गमस्थान माना था। इसका प्रारंभ अपने आत्म-रक्षाके भावसे होकर परमात्माके प्रेममें अंतको पहुंचता है। दाम्पत्य प्रेम, संतानप्रेम, धन, पशु, जाति, देवता, धर्म आदि प्रेम सब ही विविध अंशोंमें आत्म-काम (Self-love) ही हैं। इनका संबंध भी परमात्मासे है क्योंकि जब हम अपने व्यक्तित्वसे प्रेम करेंगे तो परमात्मासे भी करेंगे, यह उनका कहना था। इसी लिए उन्होंने इच्छा (Desiring) को बुरा न माना था-फिर चाहे पुत्रों-सम्पति या ब्राह्मणकी ही वाञ्छा क्यों न की जाय! इसतरह इनने भी प्राचीन वैदिक मार्गका एक तरहसे समर्थन करना ही ठीक माना था। त्याग अवस्थामें भी स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि उपभोगकी वस्तुओंको बुरा नहीं बतलाया था।[1] सचमुच उपरान्तके इन ऋषियोंद्वारा यद्यपि वेदोंके विरुद्ध भी आवाज उठाई गई थी, परन्तु वे उसके मूलभावके खिलाफ नहीं गए थे। आत्म-ज्ञानको विविध रीतियोंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न इनमें जारी होगया था। परिणाम इसका यह हुआ कि अन्ततः वेद और वैदिक क्रियाकाण्डको लोग बिलकुल ही हेय दृष्टिसे देखने लगे। उनको अविद्या और नीचे दर्जेका ज्ञान समझने लगे।[2] पर यह सब हुआ तब ही जब जैन तीर्थंकरों-श्रमण

१-पूर्व० पृ० १५३-१८०। २-पूर्व० पृ० १९३।

धर्मके प्रणेता[1] साक्षात् जीवित परमात्माओंने इन वैदिक ऋषियोंके सिद्धान्तोंके विरुद्ध समय समयपर नितान्त वस्तुस्वभावमय धर्मका निरूपण किया था। अवश्य ही आधुनिक विद्वान् इस व्याख्यासे सहसा सहमत नहीं होते हैं, पर यह हम देख ही चुके हैं कि स्वयं वेदोंमें ही वेदविरोधियोंका अस्तित्व बतलाया गया है। ये वेदविरोधी अवश्य ही जैन श्रमण थे।

याज्ञवल्क्यके सिद्धांतोंने वैदिक धर्ममें उपरांत ईश्वरवादको उत्तेजना दी। इसमें ब्राह्मणोंका पुराना ही श्रद्धान था, परन्तु याज्ञवल्क्यके सिद्धांतोंने इसके लिये नया क्षेत्र ही सिरज दिया। बृहद आरण्यक उपनिषदके प्रथम अध्यायमें इस मतका निरूपण किया हुआ मिलता है। 'पुरुष-विधि-ब्राह्मण' के कर्त्ता आसुरी अनुमान किए गए हैं। आसुरी ही इस जागृतिमें मुख्य व्यक्ति थे। बौद्ध शास्त्रोंमें आसुरीका उल्लेख मिलता है। वहां इनके बारेमें कहा गया है कि सूर्यको ही इन्होंने प्रथमजन्मा माना था और वही इनके निकट 'ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, शासक, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, संजिता, वर्तमान और भविष्यत्का पिता था।' उसके मनमें इच्छा होते ही मनशक्तिसे (मनोपनिधि) उसने सृष्टि रच दी थी। यही भाव 'पुरुष-विध-ब्राह्मण' में दिया हुआ है।[2] यही आसुरी संभवतः निरीश्वर सांख्यमतके उपदेशक हैं। श्वेताम्बर जैनग्रन्थके अनुसार वह भगवान ऋषभदेवके समयके मरीचि नामक भृष्ट जैनमुनि और सांख्यमतके प्रणेताके शिष्य

१-कल्पसूत्र पृ० ८३। २-ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध० इन्ड० फिला० पृ० २१३-२१७।

कपिलके अनुयायी थे। कपिलको आसुरी अपना गुरु मानते थे और उनसे ही 'षष्टि-तंत्र' नामक मान्य सांख्य ग्रन्थ रचा था। (देखो आवश्यक बृ०निर्युक्ति गा० ३९०-४३९) किंतु 'आदिपुराणजी'में कपिलको मारीचिका शिष्य नहीं लिखा है। वहां 'त्रिदंडी मार्ग' निकालनेका उल्लेख है (पृ० ९३७)। जो हो, इससे यह प्रकट है कि आसुरीका सम्बन्ध अवश्य ही सांख्यदर्शनसे था किन्तु हमारा अभिप्राय यहांपर इन वैदिक ऋषियोंके सिद्धांतोंपर विवेचना करनेका नहीं है और न हमारे पास इतना स्थान ही है कि हम उनकी विवेचना यहां कर सकें। यहां मात्र वैदिक-धर्मके विकाश क्रमपर प्रकाश डालना इष्ट है, जिससे भगवान पार्श्वनाथके समयके धार्मिक वातावरणका स्पष्ट रङ्ग-ढंग मालूम हो सके। वैसे जैन-शास्त्रोंमें इन वैदिक मान्यताओंकी स्पष्ट आलोचना मौजूद ही है। अस्तु! हमें अपने उद्देश्यानुसार केवल इन वैदिक ऋषियोंके सैद्धांतिक इतिहास क्रमपर एक सामान्य दृष्टि डाल लेना ही उचित है।

आसुरीका अस्तित्व संभवतः भगवान नेमिनाथके तीर्थमें रहा होगा और इन्हींके धर्मोपदेशसे यह प्रभावित हुआ होगा, यही कारण है कि वह हमारे लिये आत्मा या परमात्माको प्राप्त करना अन्य कार्योंसे सुगम समझता है (God or soul is nearer to us than anything else: dearer than a son, dearer than wealth, dearer than all the rest) और पुत्र, सम्पत्ति एवं अन्य सब वस्तुओंसे प्रिय बतलाता है। जहां पहले पुत्रकी प्रधानता रही थी, वहां वह अब आत्माको ला उपस्थित करता है। पर साथ ही वह अन्य कर्तव्योंको पालन करना भी जरूरी खयाल

करता है जो उसके निकट सिर्फ तीन ये हैं; (१) ब्राह्मण, (२) यज्ञ, (३) और संसार । अपने पुरखाओंके सामाजिक, नैतिक और आत्मीक कार्योंको करना भी वह उचित बतलाता है । इन कर्तव्योंकी पूर्ति करनेको वह तीन लोक-देव, पितृ और नृलोक निर्दिष्ट करता है । नृलोककी प्राप्ति केवल पुत्र द्वारा ही उसने मानी है । इस तरह वह भी प्राचीन मान्यता स्त्री और पुत्रकी प्रधानताको छोड़ नहीं सका है । देव और पितृलोकका लाभ क्रमशः ज्ञान और यज्ञ द्वारा उसने बतलाया है । सामाजिक जीवनके सम्बन्धमें वह कहता है कि मूलमें मनुष्योंमें कोई जातीय भेद विद्यमान नहीं थे परंतु उपरान्त सामाजिक बढ़वारी और भलाईके लिहाजसे जातीय भेद स्थापित किये गये थे । जैनदृष्टि भी कुछ२ इसी तरहकी है । भोगभूमिके जमानेमें वह भी मनुष्योंमें कोई भेदभाव नहीं बतलाते हैं परन्तु कर्तव्य युगके आनेपर आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेवने चार वर्ण या जातियां स्थापित की थीं, यह कहते हैंकिन्तु जैनधर्ममें जातियोंकी उच्चता आदिपर उतना अभिमान नहीं माना गया है, जितना कि हिंदू ऋषियोंके निकट रहा है। जैनदृष्टिसे जातिमद एक दूषण है पर आसुरी इन जातीय भेदोंको आवश्यक मानता था । भविष्य जन्मके श्रद्धानको भी वह मुख्यता देता था ।[१]

इस प्रकार वैदिक धर्ममें प्रारम्भसे ही गृहस्थकी तरह साधुको भी नियमित रीतिसे सांसारिक भोगोपभोगका आस्वाद लेना बुरा नहीं माना गया था । स्वयं वेदोंमें ही संतानको मनुष्यका मुक्तिदाता बतलाया गया था । (प्रजातिः अमृतम्) उनके निकट अमरपनेको प्राप्त करना केवल

१-पूर्व पृ० २१८-२२५ ।

विवाह द्वारा संभव था। विवाह विना वे मनुष्यका 'मिट्टीमें मिलना और गारत होना' मानते थे।[१] ऐतरीय और तैतरीय कालमें भी इस मान्यताकी प्रधानता रही थी। सब ही वेदानुयायियोंके निकट, (१) वैदिक साहित्यका अध्ययन करना, (२) वैदिक रीतिरिवाजोंका पूर्ण पालन करना, (३) पारम्परीण धर्ममें किंचित् उन्नति करना, (४) देवताओं और पित्रोंकी पूजा करना एवं (५) विवाह करना मुख्य कार्य रहे हैं।[२] यज्ञ करने, पंचाग्नि तपने और विवाह करनेपर वे भगवान् पार्श्वनाथके समय तक जोर देते रहे थे। यद्यपि आसुरीने भगवान् नेमिनाथके उपदेशके प्रभावानुसार इस श्रद्धानमें किंचित् फेरफार भी किया था, परन्तु वह भी मूलभावसे विचलित नहीं हुआ था। सारांश यह कि वेदानुयायी ऋषियोंने गृहस्थ जीवनका नियमित उपभोग करना बुरा नहीं माना था और हठयोगको भी वेढब बढ़ाया था। ब्रह्मचर्यसे तो वह बुरी तरह भयभीत थे। ब्राह्मण ऋषि बौद्धायन और वशिष्ठने स्पष्ट कहा था कि पुत्र द्वारा मनुष्य संसारपर विजय पाता है; पौत्रसे अमरत्व लाभ करता है और प्रपौत्रको पाकर परमोच्च स्वर्गको प्राप्त करता है।[३] इसी लिए एक ब्राह्मणका जन्म तीन प्रकारके ऋणोंसे लदा हुआ होता बतलाया गया है। अर्थात् छात्रावस्थाका ऋण तो उसे ऋषियोंको देना होता है; यज्ञोंको करके देवताओंके ऋणसे वह उऋण होता है और एक पुत्र द्वारा वह संस्तुति (Manes) को संतोषित करता है।[४]

जैनोंके 'उत्तरपुराण'में भी वैदिक ऋषियोंके इस धर्म विकाश

१-पूर्व० पृ० २४९। २-पूर्व० पृ० २४६। ३-ए हिस्ट्रीऑफ प्री-बुद्ध० इन्ड फिला० पृ० २४७। ४-बौद्धायन २।९।१६।६, वशिष्ट १७।५.

सम्बन्धी क्रमके किञ्चित् दर्शन हमें मिलते हैं, यह हम ऊपर कह चुके हैं। सचमुच वहां पहले यही कहा गया है कि यद्यपि स्वयं भगवान ऋषभदेवके समयमें ही मरीचि द्वारा पाखंड मतकी उत्पत्ति होगई थी परन्तु धर्मकी विच्छित्ति भगवान शीतलनाथ तक प्रायः नहीं हुई थी। हां, इन शीतलनाथ तीर्थंकरके अंतिम समयमें आकर अवश्य ही जैनधर्मका नाश होगया था और भूतिशर्मा ब्राह्मणके पुत्र मुंडशालयनने मिथ्याशास्त्रोंकी रचनाकर पृथ्वी, सुवर्णका दान देना सर्व साधारणके लिए आवश्यक बतलाया था।[1] उपरान्त श्रेयांसनाथ भगवान द्वारा जैनधर्मका उद्योत पुनः होगया था परन्तु भगवान मुनिसुव्रतनाथके तीर्थकालमें जाकर अहिंसा धर्मके विरुद्ध पुनः ऊधम मचा था। राजा वसुके राजत्वकालमें पर्वत आदिने हिंसाजनक यज्ञोंकी आविष्कृति की थी। 'अज' शब्दके अर्थ 'शालि धान्य' के स्थानपर इनने 'बकरा' मानकर पशुओंका होमना वेदोक्त बतलाया था और फिर नरमेधतक रच दिया था।[2] परन्तु इसके पहले अरनाथ तीर्थंकरके समयमें ब्राह्मण साधु स्त्री संहित रहने लगे थे, यह भी बतलाया गया है। अयोध्याके राजा सहस्रबाहुके काका शतुविंदकी स्त्री श्रीमतीसे उत्पन्न जमदग्नि द्वारा इस प्रथाका जन्म हुआ था। यहांपर इस वेदवाक्यका उल्लेख जैनशास्त्रमें किया गया है कि पुत्र विना मनुष्यकी गति नहीं होती है। (अपुत्रस्यगातिर्नास्तीत्यार्ष किं न त्वया श्रुतं) जमदग्निने अपने मामा पारत देशके राजाकी छोटी पुत्रीसे विवाह किया था, जिससे इनके दो पुत्र इन्द्रराम और श्वेतराम हुये थे। सहस्रबाहुने

१–उत्तरपुराण पृष्ठ १०० । २–पूर्व० पृष्ठ ३३९–३५१ ।

जब इनकी कामधेनु गाय जमदग्निको मारकर छीन ली थी तब इन्होंने क्षत्री वंशको नष्ट करनेका प्रयत्न किया था। शांडिल्य ऋषिने सहस्रबाहुकी एक रानी चित्रमतीको सुबन्धु नामक निर्ग्रन्थ मुनिके पास रख दिया था, जिसके गर्भसे सुभौम चक्रवर्तीका जन्म हुआ था। इन्हीं सुभौमने अपने वंशके वैरी परशुराम—जमदग्निके दोनों पुत्रोंको नष्ट किया था।[1] भगवान मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमें ही रामचन्द्र आदि हुये थे और फिलासफरोंके आश्रयदाता जनक भी इस कालमें मौजूद थे। जनकने पशु यज्ञका विचार किया था, परन्तु वह विद्याधरों, जिनमें रावण मुख्य था, से भयभीत थे जो पशु यज्ञके खिलाफ और सम्यग्दृष्टी थे। जनकके मंत्री अतिशय-मतिने इसका विरोध भी किया था।[2] अन्ततः राम—लक्ष्मणकी मदद राजा जनकने ली थी। उपरान्त गौतम, जठरकौशिक, पिप्प-लाद आदिका भी उल्लेख इस पुराणमें है। इस तरह जैन शास्त्रोंसे भी वैदिक धर्मके विकाशक्रमका पता चल जाता है।

अतएव यहांतकके इस सब वर्णनसे हम भगवान पार्श्वनाथ-जीके जन्मकालके समय जो धार्मिक वातावरण इस भारतवर्षमें हो रहा था उसके खासे दर्शन पा लेते हैं। देख लेते हैं कि ब्राह्मण ऋषियोंकी प्रधानतासे पशुयज्ञ, हठयोग और गृहस्थ दशामय साधु जीवन बहु प्रचलित थे। ब्रह्मचर्यका प्रायः अभाव था। तथापि देवताओंकी पूजा और पुरखाओंकी रीतियोंके पालन करनेके भावसे देवमूढ़ता और तीर्थ मूढ़ता आदि भी फैल रहे थे। वातावरण ऐसा दूषित होगया था कि प्राकृत उसको सुधारनेकी आवश्यक्ता

१–पूर्व० पृ० २९२–३००। २–पूर्व०१ १०–३४०–३६४।

थी । अवश्य ही इस समय भगवान नेमनाथजीके तीर्थके जैन मुनि भी यद्यपि जैनधर्मका प्रचार कर रहे थे और जैनी भी मौजूद थे; परन्तु वैदिक मतके सामने उनका महत्व बहुत कम था । अस्तु; अब आइये पाठकगण काशी और उसके राजाका परिचय प्राप्त कर लें जहां भगवान पार्श्वनाथका जन्म हुआ था ।

---

(८)

बनारस और राजा विश्वसेन ।

"भरतखंड छहखंड समेत, धनुषाकार विराजत खेत ।
तामें सब सुख धर्म निवास, कासी देश कुशल जनवास ॥३२॥
गांव खेट पुर पट्टन जहां, धन-कन भरे बसै बहु तहां ।
निवसें नागर जैनी लोय, दया धर्म पालैं सब कोय ॥३३॥
—पार्श्वपुराण ।

महा रमणीक देश था । ऊंचे पर्वत, सलिल सरितायें और कलकल निनादपूर्ण झरने वहांके दृश्यको बड़ा ही मनमोहक बना रहे थे । उसके मध्यके बड़े२ गहन वन पथिकजनोंको भयभीत करनेवाले थे; परन्तु वही मुनिजनोंके लिये ध्यानके अपूर्व स्थान थे । वहांकी गिरिकन्दरायें और नदीतट मुनिजनोंके निवाससे पवित्र बन चुके थे । साथ ही थोड़ी २ दूरके फासलेपर स्थित ग्राम और नगर वैसे ही वहां शोभ रहे थे जैसे आकाशमें तारागण चमकते नजर आते हैं । उन नगरों और ग्रामोंके बीचमें जैन-मंदिरोंकी उन्नत शिखरें ध्वजादि सहित दूरसे ही दिखतीं ऐसी मालूम पड़तीं थीं मानों वे भव्यजनोंको त्रिलोकवन्दनीय वीतराग

भगवानके पूजन–भजन करनेके लिये आह्वानकर्ता ही हों। प्रजा-जन भी वहांके बड़े ही दयालु, सद्धर्मरत और व्यसनोंसे विरक्त थे। वह नियमित रीतिसे अपने धर्मका पालन करते थे और सुमतिसे रहते थे। इसी कारण उनमें धन–सम्पत्तिकी प्रचुरता थी। उनका गोधन अपूर्व था। श्रावकजन सबही प्रकार अपने धर्मकार्यों में व्यस्त थे। उनकी भव्यता ऐसी थी कि अमरेश भी वहां जन्म लेनेको तृष्णाभरे नेत्रोंसे विकल होते थे।[1]

वस्तुतः यह देश इस भारतवर्षमें ही था और यह आजसे करीब पौनेतीनहजार वर्ष पहले 'काशीदेश' के नामसे विख्यात था। इसकी राजधानी वाराणसी नगरी थी; जो बहुत ही प्राचीन कालसे भारतीय इतिहासमें प्रख्यात् रही है। जैनशास्त्रोंमें उस

१–'पार्श्वपुराण' में यही कहा गया है, यथाः–'अपुनीत सब ही विध देस। जहां जनम चाहें अमरेश' इसके अतिरिक्त सकलकीर्ति आचार्यके 'पार्श्वचरित' में भी इसका विशद विवरण मिलता है। श्री चंद्रकीर्त्याचार्य प्रणीत 'पार्श्वचरितमें इसका उल्लेख इन शब्दोंमें किया गया हैः–

' अथास्ति भारतं क्षेत्रं द्वीपे जम्बुद्रुमांकिते। गंगासिन्धुसुवैद्य तो षटषक्षीज्ञत भूतले ॥ २ ॥ तन्मध्ये विषयो वर्यः काशाख्यो विषयार्पकः। जनानां च चकास्तिस्म बिडंवितसुरालयः ॥ ३ ॥ यत्राजस्त्रं प्रमोदिन्यो निरीत्यवग्रहे वसत्। अज्ञपञ्चसद्वान्ये प्रजाः स्वर्ग्रता इव ॥४॥ कुर्कुये त्यात सदूभ्रामैः कासारैर्विक चौप्तलैः शस्यदैः सीमभिर्नित्यं यश्च कास्ति समंततः ॥५॥ प्रत्यग्र कुसुमर्मौदैर्यैः सदामोदयत्यलं, दिशः समंतत कर्तुस्वभूवं सार्थकामिव ॥६॥ विभ्राणै मर्हदुदंडापि छत्र विंसदा। यत्प्रदेशावभु पूगद्रुमैर्भूपाइवोन्नतै ॥७॥ सधर्माक्ष धरंत्यर्थं संतत्यै कामसेवनं। परलोका क्रियासक्ता यत्र निर्व्यसना जनाः ॥८॥ सदांगमेषु विश्रामैः पथिकाः स्फोटयितश्रमाः। यत्राह्वानं प्रभन्यंते गृहाजिर बिभैसदा ॥ ९ ॥ इत्यादि

समय इसे बड़ा ही भव्य नगर बतलाया गया है। उसकी समानताका और कोई नगर उस समय धरातलपर नहीं था। वह तीर्थंकर भगवानका जन्मस्थान था और अपूर्व था। उसके देखने साथ ही मनुष्योंकी तो बात क्या स्वर्गलोकके देवोंके मन भी मोहित होजाते थे। वह प्राचीनकालसे ही तीर्थराजके रूपमें तब भी प्रसिद्धि पा चुका था।[1] श्री पार्श्वनाथजीके बहुत पहले हुये तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथजी इस नगरीको पहले ही अपने जन्मसे पवित्र कर चुके थे।[2] इनसे भी पहले यहां जैनधर्मका शांतिदायक प्रकाश फैल चुका था! यही नहीं इस नगरका जन्म ही स्वयं जैनियोंके प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवकी आज्ञासे हुआ था और यहांके सर्व प्रथम राजा अकंपन नामक इक्ष्वाकुवंशीय महान् क्षत्री थे,[3] यह जैनियोंकी मान्यता है, और इस पवित्र तीर्थराजका विशद वर्णन जैन शास्त्रोंमें खूब ही मिलता है। भगवान पार्श्वनाथके समय इसकी विशालता प्रकट करनेको जैन कवियोंके पास पर्याप्त शब्द ही नहीं थे। उनको यही कहना पड़ा था कि:—

"शोभा जाकी कही न जाय, नाम लेत रसना शुचि थाय।"

आजका बनारस ही यह पवित्र धाम है। आज भी उसकी जो प्रख्याति है वह उसके पूर्व गौरवकी प्रत्यक्ष साक्षी है। जैनशास्त्रोंमें कहा गया है कि इस अवसर्पिणी कालके तीन काल जब गुजर चुके थे और चौथा प्रारम्भ हुआ ही था तब वहांपर सभ्यताकी सृष्टि भगवान ऋषभदेव द्वारा हुई थी। ऋषभदेवके पहले

१—बौद्धोंने भी बनारसको प्राचीनकालसे ऋषियोंका स्थान बतलाया था।
२—उत्तरपुराण पृष्ट ५१। ३—आदिपुराण पर्व १६।१२८—१९०. व २४१—२७५।

तीन कालोंमें यहां भोगभूमिकी प्रवृत्ति थी, जिसमें युगल दम्पतिके उत्पन्न होते ही उनके माता-पिता देहावसान कर जाते थे और वे दम्पति युवावस्थाको प्राप्त होकर उस समयके अलौकिक कल्पवृक्षोंसे भोगोपभोगकी मनमानी सामग्री प्राप्त करके सांसारिक आनन्दमें मग्न रहते थे। उनको आजीविका आदिकी कुछ भी फिकर नहीं थी, परन्तु ज्यों२ समय बीतता गया त्यों२ उन कल्पवृक्षोंका ह्रास होता गया और अन्ततः ऋषभदेवके समयमें ऐसा अवसर आ गया कि लोगोंको परिश्रम करके अपने पुरुषार्थके बल जीवन यापन करनेके लिये मजबूर होना पड़ा। इसी समय ऋषभदेवने सब प्रकारके असि, मसि, कृषि आदि कर्म जनताको सिखाये थे और उनके वर्णादि स्थापित करके दैनिक जीवन शांतिमय व्यतीत करनेके उपाय बतलाये थे और इसी समय इन्हीं विधाता ऋषभदेवकी आज्ञासे इंद्रने विविध देशों एवं नगरोंकी रचना की थी।

जैनधर्ममें कालके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो भेद करके इनमें प्रत्येकको छह कालोंमें विभक्त किया है। उत्सर्पिणी कालमें प्रत्येक वस्तुकी क्रमशः उन्नति होती जाती है और अवसर्पिणीमें ह्रास होते२ एकदम सबकी हानि होजाती है। अवसर्पिणीके छट्ठे कालके अन्तमें एक प्रलयसी उपस्थित होती है, जिसमें कतिपय बड़े भाग्यवान जीव ही गिरि कंदराओंमें छिपकर अपने प्राण बचा लेते हैं। यही लोग उत्सर्पिणीके छट्ठे कालके प्रारम्भ होनेपर गुप्तस्थानोंसे निकल कर संसार क्रम प्रारम्भ करते हैं। उत्सर्पिणीके कालोंकी गिनती अवसर्पिणीसे बरअक्स छट्ठे कालसे प्रारम्भ होती है। इस प्रकारके क्रमसे इस संसारका अनादि निधनपना जैनशास्त्रोंमें निर्दिष्ट

किया गया है।[1] भगवान पार्श्वनाथ इस अवसर्पिणीके चौथे कालके अंतिम समयमें हुये थे। आजकल इसीका पंचमकाल जो दुःखकर पूर्ण है व्यतीत हो रहा है। इसी अवसर्पिणीके अथवा कर्मयुगके प्रारंभिक दिनोंमें काशी और वाराणसीकी सृष्टि हुई थी। आज वाराणसी और काशी केवल बनारस नगरके ही नाम हैं; परन्तु प्राचीन कालमें काशी एक प्रख्यात् जनपद था और वाराणसी उसकी राजधानी थी।[2]

पाणिनिके व्याकरणके अनुसार 'वर' और 'अनस' शब्दसे वाराणसीकी उत्पत्ति हुई बतलाई जाती है। अर्थात् वर माने सर्वोत्तम और अनस माने पानी; जिसका सम्बंध बनारसका गंगातटपर अवस्थित होना है। ब्राह्मण लोग इस नामको 'वरुण' और 'असि' नामक झरनाओंकी अपेक्षा निर्णीत करते हैं। ग्रीक (यूनानी) लोगोंको भी बनारसका किंचित् परिचय था। उनका प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता टोलमी (Ptolemy) काशीको 'कस्सिडिया' (Cassidia) नामसे उल्लेख करता है। उनके अनुसार पहले काशीकी राजधानी भी इसी नामकी थी। उपरान्त प्राचीन काशी नगरका विध्वंश जब बच्छू लोगों (Bacchus) द्वारा होगया था, जैसे कि डयोनिसियस पेरीगेटस (Dionysius Pericgetes) बतलाता है, तब प्राचीन नगरके ध्वंशावशेषोंसे किंचित् हटकर वाराणसी बसाई गई थी। ग्रीक लोग वाराणसीको 'ओरनिस' (Aornis) अथवा 'अवरनस' (Avernus) नामसे परिचित करते हैं। मुगल लोगोंने इसीका नाम बनारस रक्खा था।[3]

---

१. आदिपुराण पर्व ३ श्लो० १४-२३९; पर्व ९।३४-८८।
२. बुद्धिस्ट इन्डिया पृष्ठ २३। ३. एशियाटिक रिसर्चेज् भाग ३ पृष्ठ १९२।

ब्राह्मणोंके 'शङ्करप्रादुर्भाव' में वाराणसीके राजा दिवोदासका उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि 'पद्मकल्प' नामक कालके मध्य समयमें ऐसा अकाल पड़ा कि संसारके अधिकांश मनुष्य अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे। यहांतक कि स्वयं ब्रह्माको इस तबाई पर बड़ा दुःख हुआ। उस समय रिपुञ्जय नामक राजा कुश द्वीपके पश्चिम भागमें राज्य करता था। उससे भी अपनी प्रजाकी दुर्दशा देखी न गई और वह अपने शेष दिन व्यतीत करनेके लिये काशीमें आगया। ब्रह्माने रिपुञ्जयको सारे संसारका राज्य देदिया और काशी उसकी राजधानी बनादी तथापि उसे इधर उधर भटकती फिरती त्रसित मनुष्यजातिको एकत्रित करने और उसको उचित स्थानोंपर बसानेकी आज्ञा दी। साथ ही उसका नाम दिवोदास रख दिया। राजा इस उत्तरदायित्वको स्वीकार करनेमें पहले तो आनाकानी करने लगा, पर इन शर्तोंपर उसने यह भार ग्रहण कर लिया कि जो भी प्रसिद्धि उसे प्राप्त हो वह ठेठ उसीकी हो और कोई भी देवता उसकी राजधानीमें न रहने पावे। हठात् ब्रह्माने यह शर्तें मंजूर कर लीं; और स्वयं महादेव अपने प्रियस्थान काशीको छोड़कर गंगाके मुहानेपर मंदारगिरिके ऊपर जा विराजे। दिवोदासका राज्य विशेष बलपूर्वक प्रारम्भ हुआ, जिससे देवताओंके भी कान खड़े होगए। इसने सूर्य और चन्द्रको सिंहासन च्युतकर दिया और अन्योंको उनके स्थानपर नियत किया। साथ ही एक अग्निका किला भी बनाया परन्तु काशीकी प्रजा उसके पुण्यमई राज्यमें बड़ी सुखी थी। देवता ही उसके ईर्षालु थे और महादेव अपने प्रिय स्थानको लौटनेके लिए छटपटा रहे थे। उन्होंने देवताओंको राजा

देवोदासको डिगानेके लिए उकसाया। चौसठ योगिनी और बारह आदित्य इस प्रयासमें असफल हुये। आखिर महादेवके भेजे गनेशजी एक ज्योतिषिके स्वरूपमें आए। वैनायिकियोंकी सहायतासे उन्होंने काशीकी प्रजाकी रुचि बदलना प्रारम्भ की और उनको होनेवाले तीन अवतारोंके लिए तैयार किया।

पहले ही विष्णु 'जिन' के स्वरूपमें आये, जिन्होंने वेदोंमें बताए हुए यज्ञों, प्रार्थनाओं, तीर्थयात्राओं और क्रियाकांडोंका विरोध किया और बतलाया कि सत्य धर्म किसी जीवित प्राणीको न मारनेमें ही है। इनकी सहगामिनी (consort) जयादेवीने इस नये धर्मका प्रचार अपनी जातिमें किया। काशीके निवासी संशयमें पड़ गये। इनके बाद महादेव अर्हन् या महिमन्के रूपमें अपनी पत्नी महामान्यके साथ आए। महामान्यके अनेकों पुरुष स्त्री सेवक थे। इन्होंने 'जिन' प्रणीत सिद्धांतोंका समर्थन किया और अपनेको ब्रह्मा और विष्णुसे बढ़ चढ़कर बतलाया। स्वयं 'जिन' ने यह बात स्वीकार की। फिर दोनोंने ही मिलकर सारे संसारका भ्रमण और अपने सिद्धांतोंको फैलानेका उद्योग किया। आखिरको ब्रह्मासे भी न रहा गया और वह 'बुद्ध' के रूपमें आ अवतीर्ण हुए। इनकी सहगामिनी 'विज्ञ' थी। इन्होंने भी अपने पूर्वके दो अवतारोंके अनुसार उपदेश दिया और ब्राह्मणकी स्थितिसे राजाको बरगलाना शुरू कर दिया। दिवोदासने बड़ी रुचिसे इनका उपदेश सुना। परिणामतः उसे अपने राज्यसे हाथ धोने पड़े। महादेव खुशी२ काशी लौट आए। दिवोदासने गोमतीके किनारे एक दूसरा नगर बसाया। महादेवजीने काशीके लोगोंको समझानेके प्रयत्न किये, परन्तु सब

वृथा ही। इसलिए उन्होंने 'शङ्कराचार्य'का रूप धारण किया और लोगोंको वेद समझाना शुरू किये। इन्होंने जैनोंके मंदिरोंका विध्वंश किया, उनके शास्त्रोंको जलाया और उन सबको तलवारके घाट उतारा जो इनके मार्गमें आड़े आए।[1]

इसतरह यह ब्राह्मणोंकी गढ़ी हुई राजा दिवोदासकी कथा है। यद्यपि यह एक कथा ही है, पर इसका आधार ऐतिहासिक सत्य होना संभवित है। हमें मालूम है कि जैनियोंके २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथको ही आजकल बहुतसे लोग जैनधर्मका संस्थापक ख्याल करते हैं; परन्तु वास्तवमें जैनधर्मका अस्तित्व इनसे भी पहलेका प्रमाणित हुआ है, यह प्रकट है। उपरोक्त कथामें भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया गया मालूम होता है। ब्राह्मण ग्रन्थकार भगवान पार्श्वनाथ, महावीरस्वामी और महात्मा बुद्धका वर्णन यहां एक साथ करते प्रतीत होते हैं और आपसी द्वेषके कारण जैनधर्मके प्राचीन इतिहासका उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं समझते हैं। साथ ही वह जैनधर्म और बौद्धधर्मको एक ही बतलाते हैं। इसका कारण इन दोनोंका अहिंसामई वेदविरुद्ध उपदेश देना ही कहा जासक्ता है; यद्यपि जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों ही अलग २ धर्म हैं यह प्रकट है।[2]

ब्राह्मण कथाकारका अभिप्राय 'जिन' शब्दसे भगवान पार्श्वनाथसे ही है, *यह इसीसे प्रकट है कि वह उनके जन्मस्थान

१–एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृष्ठ १९१–१९४। २–देखो हमारा 'भगवान महावीर और म० बुद्ध' नामक ग्रंथ। *'आईने अकबरी'की जैनकी वंशावलीमें हिन्दुओंके अनुसार 'जिन'का काल ईसासे पूर्व ९५० लिखा

बनारसको अपनी कथाका मुख्य स्थान बतलाता है तथापि जिन और अर्हन्का मिलकर संसारमें उपदेश देनेका उल्लेख भी इसी भावका समर्थक है, क्योंकि भगवान पार्श्वनाथ और महावीरस्वामीका धर्म कहीं अलग २ नहीं रहा था। तिसपर कतिपय विद्वान् तो भगवान पार्श्वनाथके मुख्य शिष्योंका महावीरस्वामीके संघमें सम्मिलित होना, स्पष्ट उल्लेखोंके द्वारा बतलाते हैं।[1] वस्तुतः यह है भी ठीक, क्योंकि एक तीर्थंकरके निर्वाण उपरान्त दूसरे तीर्थंकरके उत्पन्न होने तक पहलेके तीर्थंकरका शासनकाल जैनशास्त्रोंमें बतलाया गया है। इसके उपरान्त नये तीर्थंकरका शासनकाल व्याप्त होजाता है और पूर्व तीर्थंकरके अनुयायी नये तीर्थंकरकी शरणमें स्वभावतः पहुंचते हैं। उदाहरण रूपमें भगवान महावीरके पहले तक भगवान पार्श्वनाथका शासन चल रहा था, परन्तु महावीरस्वामीके तीर्थंकर होनेपर उनका शासन चल निकला। तीर्थंकरोंके उपदेशमें भी कोई अन्तर प्रायः नहीं होता है। इसी कारण पूर्वागामी तीर्थंकरके अनुयायी नवीन तीर्थंकरकी शरणमें आते जरा भी नहीं हिचकते हैं; प्रत्युत वह तो बड़ी भारी उत्सुकतासे नवीन तीर्थंकरके आगमनकी वाट जोहते हैं, क्योंकि पहलेके तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे वह आगामी होनेवाले तीर्थंकरका विवरण जान लेते हैं। अतएव

है और उन्हें ७७ या २५७ वर्ष जीवित रहा कहा है। (Asiatick Researches, Vol IX. p. 209). इससे भी 'जिन' से भाव भगवान पार्श्वनाथजीका ही निकलता है, क्योंकि ईस्वी ८५० में उन्हींका अस्तित्व प्रमाणित है।

१-जैनसूत्र (S. B. E.) भूमिका, चार्पेन्टियरके उत्तराध्ययन सूत्रकी भूमिका।

इसी अपेक्षा ब्राह्मण कथाकार उपरोक्त उल्लेख करता है तथा कहता है कि अर्हन् ने भी वैसा ही उपदेश दिया था। भगवान महावीरका शासन उनके समयसे चला आरहा है और इनके अनुयायियोंको ब्राह्मणोंने 'आर्हत्' नामसे निर्दिष्ट किया है,[1] यह भी स्पष्ट है, इस अपेक्षा अर्हत्से अभिप्राय उक्त कथामें भगवान महावीरसे ही है। बुद्ध शब्दका व्यवहार वह म० बुद्धको लक्ष्य करके करता प्रतीत होता है, यही कारण है कि वह उनको भी जिन और अर्हन्के साथ २ संसारभरमें भ्रमण करता और उपदेश देता नहीं बतलाता है। यहां वह बिल्कुल ही ऐतिहासिक वार्ता कह रहा है, क्योंकि हमें माल्रम है कि बौद्धधर्मका विकाश भारतके बाहिर सम्राट् अशोकके पहले नहीं हुआ था। 'अर्हत्' को ब्राह्मण कथाकार 'महिमन्' या 'महामान्य' नामसे उल्लिखित करता है। 'जिनसहस्रनाम' में हमें एक ऐसा ही नाम तीर्थंकर भगवानका मिल जाता है।[2] इसकारण हम इस शब्दको भी जैन तीर्थंकरके लिये व्यवहृत हुआ पाते हैं। सहगामिनी जो उक्त कथामें बतलाई गई हैं वह तीर्थंकरोंकी शासन देवता हैं; क्योंकि नागोद राज्यके पटैनीदेवीके जैनमंदिरमें जो जैन देवियोंकी मूर्तियां और उनके नाम लिखे हैं उनमें जया और महामनुसी नामक देवियां भी हैं। (देखो मध्यभारत प्राचीन जैनस्मारक पृ० १२३)। ब्राह्मण कथाकार भी जया और महामान्यको जैन तीर्थंकरोंकी सहगामिनी बतलाता है। अस्तु; उपरान्त जो जैनधर्मका विशेष प्रकाश होनेपर उसका नाश शङ्कराचार्य द्वारा

१–ए० हिस्ट्री ऑफ प्री० इन्डि० फिला० पृष्ट ३७७। २–'महामुनिमहामौनी' इत्यादि छटा अध्याय देखिये।

होते बतलाया गया है, वह भी ऐतिहासिक सत्य है। इसतरह ब्राह्मणोंके बनारस अधिपति दिवोदासका वर्णन है, जिसका सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथसे प्रकट होता है। उससे भी भगवानका जन्मस्थान बनारस सिद्ध होता है और यह भी स्पष्ट होजाता है कि उस समय वह अवश्य ही संसारभरमें सर्वोत्तम नगर था कि ब्रह्माने उसे ही संसारभरके राज्यकी राजधानी नियत की, तथापि यह भी प्रकट है कि वहांसे ब्राह्मणधर्मका प्रभुत्व हट गया था और जैनधर्मकी प्रधानता थी।

सचमुच ब्राह्मण कालमें उत्तरीय भारतके कुरु, पाञ्चाल, कौशल, काशी और विदेह ही विख्यात राज्य थे। इनमेंसे कुरु और पाञ्चालोंकी तथा दूसरी ओर कौशल, काशी और विदेहोंकी आपसमें मित्रता थी। कुरु-पाञ्चालों और शेष तीनों राज्योंका पारस्परिक सम्बन्ध कटुता लिए था।[1] उपरान्त बौद्धकालमें काशी वज्जियन संघमें सम्मिलित थी, यह बात हमें 'कल्पसूत्र'के कथनसे विदित होती है। उसमें कहा गया है कि जिस रातको भगवान महावीर निर्वाण लाभ कर सिद्ध, बुद्ध मुक्त हुए उस रात्रिको काशी कौशलके अठारह संयुक्त राजा, नौ लिच्छवि, और नौ मल्लिकोंने अमावसके रोज दीपोत्सव मनाया था।[2]

बौद्धोंका सम्बन्ध भी बनारससे बहुत कुछ रहा है। उनके शास्त्रोंमें भी इसका वर्णन खूब मिलता है। स्वयं म० बुद्धने बौद्धधर्मका नींवारोपण यहींसे किया था। सम्बुद्ध होनेपर

१-पबलिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एनशियेन्ट इन्डिया पृ० ५४-५५।
२-कल्पसूत्र (S. B. E Vol. XXII.) पृ० २६६।

वह सीधे यहीं आये थे और यहांपर जो उनके पहले साथी तपस्या कर रहे थे उनको अपने मतमें दीक्षित किया था।[1] यह घटना भगवान पार्श्वनाथके निर्वाण होनेके उपरांतकी है। वैसे इससे पहलेके भी उल्लेख बौद्धशास्त्रोंमें हैं; जहां वे म० बुद्धके पूर्वभवोंका जिक्र करते हुये बनारसका सम्बन्ध प्रगट करते हैं। शाक्यवंशकी उत्पत्तिमें भी काशीका सम्बन्ध उनके 'महावस्तु' नामक शास्त्रमें बतलाया गया है,[2] तथापि कोलियवंशके विषयमें भी ऐसा ही उल्लेख उनके शास्त्रोंमें है। 'सुमंगलाविलासिनी' (पृ० २६०-२६२) में लिखा हुआ है कि राजा ओक्काककी बड़ी पुत्रीको कुष्टरोग हो गया। उसके भाई इस संक्रामक रोगसे भयभीत हुये। उन्होंने अपनी बहिनको लेजाकर एक गहन वनमें कैद कर दिया। उधर बनारसके राजा रामको भी कुष्टरोग होगया। वह घरको छोड़कर उसी बनमें भटकने लगा। अकस्मात् बनवृक्षोंके फल खानेसे उसका रोग नष्ट होगया। इसी बीचमें उसने ओक्काककी पुत्रीको पा लिया। उसे भी उसने उस वनवृक्षके फल खिलाकर अच्छा कर लिया और उसको अपनी पत्नी बना लिया। राजाने उसी वनमें एक कोल वृक्षको हटाकर नगर बसा लिया और उसीमें रहने लगा। अन्ततः वह नगर कोलनगर कहलाने लगा और उसकी सन्तान 'कोलिय' नामसे प्रसिद्ध हुई।[3] परन्तु उनके 'महावस्तु' में इससे विभिन्न एक अन्यकथा इस वंशकी उत्पत्तिमें दी हुई है।[4] अस्तु; इतना प्रगट है कि काशीमें भी कोई राम नामक राजा होचुके हैं। जैनियोंके

१-देखो 'भगवान महावीर और म०बुद्ध' पृ० ७७। २-सम क्षत्रिय ट्राइब्स ऑफ एनशियेन्ट इन्डिया पृ० १७४-१७५। ३-पूर्व पुस्तक पृ० २०६। ४-पूर्व० पृ० २०७।

'उत्तरपुराण' में राजा दशरथके पुत्र रामचंद्रके विषयमें कहा गया है कि वे काशीमें राजा दशरथकी आज्ञा लेकर राज्य करने लगे थे।[१] संभव है, इन्हींको लक्ष्यकर बौद्धोंने उक्त कथा रची हो !

बौद्धोंकी जातक कथाओंमें एक राजा ब्रह्मदत्तका विशेष वर्णन मिलता है और उनकी राजधानी वहां बनारस बताई गई है, जैसे कि 'पलाई जातक' में उल्लेख है।[२] इसमें बनारसके राजा ब्रह्मदत्त बतलाये हैं और बोधिसत्त (बुद्धका पूर्वभवी जीव) तक्षशिलाके राजा कहे गये हैं। इनका आपसमें युद्ध होते २ बच गया था; किन्तु 'कोसियजातक' में बनारसके राजा तो ब्रह्मदत्त ही बताये हैं, पर बोधिसत्तको एक ब्राह्मण पुत्र बतलाया है, जो तक्षशिलासे वेदादि पढ़कर बनारसमें एक प्रख्यात् पंडित होगया था।[३] इसके साथ ही 'दुम्मेधजातक' में स्वयं बनारसके राजा ब्रह्मदत्तकी पट्टरानीके गर्भसे बोधिसत्तका जन्म होना लिखा है और उनका नाम ब्रह्मदत्तकुमार बतलाया है।[४] फिर 'असदिस जातक' में बोधिसत्तको बनारसके राजा असदिसका पुत्र बतलाया गया है और इनके भाई ब्रह्मदत्त कहे गये हैं।[५] इन विभिन्न कथनोंको देखते हुये स्पष्टतः नहीं कहा जासक्ता है कि किन राजा ब्रह्मदत्तका उल्लेख किया जारहा है और क्या सचमुच उनकी राजधानी बनारस ही थी? जैनशास्त्रोंमें 'ब्रह्मदत्त' नामक अंतिम चक्रवर्ती सम्राट् भगवान पार्श्वनाथसे किञ्चित् पहले हुये बतलाये गये हैं; तथापि वह कंपिलके राजा ब्रह्मके पुत्र

१-उत्तरपुराण पृ० ३६९। २-फॉसबॅल, जातक, भाग २ पृ० २१७-२१८। ३-पूर्व० भाग १ पृ० ४६३। ४-पूर्व० भाग १ पृ० २८५। ५-पूर्व० भाग २ पृ० ८७।

कहे गये हैं।[1] उपरोक्त 'दुम्मेध जातक' में भी ब्रह्मदत्त राजाके ब्रह्मदत्त कुमारका जन्म होना लिखा है। संभव है कि जैनशास्त्रके ब्रह्मदत्तको लक्ष्य करके ही उक्त कथन हो।

इसके साथ ही बौद्धोंकी कथाओंसे यह भी प्रगट होता है कि काशी और कौशल देशोंमें पारस्परिक मनमुटाव भी चला आ रहा था। कभी काशीकी विजय होजाती थी तो कभी कौशल की! संभवतः इसी कारण वैदिक साहित्यमें 'काशी–कौशल' का एकत्रित उल्लेख कईवार हुआ मिलता है।[2] एक जातकमें कहा गया है कि एकदा बनारसके राजाने कौशलपर चढ़ाई कर दी और कौशलके राजाको मारकर वह उसकी रानीको अपनी स्त्री बनानेके लिये ले आया, पर कौशलका युवराज किसी तरह बच गया। उसने कालांतरमें काशीपर धावा कर दिया। अपनी माताके गुप्त आदेशसे वह काशीका घेरा डालकर बैठ गया। परिणामतः काशीकी प्रजा घबड़ा गई। उसने राजाको प्राण रहित कर दिया और युवराजको राजा बना लिया।[3] ऐसे ही एक दूसरे जातकमें लिखा है कि बनारसके राजाके एक मंत्रीने अन्तःपुरमें कोई अनुचित्त कार्य किया जिसके कारण राजाने उसे राज्य बाह्य कर दिया। वह कौशल पहुंचा और वहांके राजाको काशीपर चढ़ा लाया, पर अन्ततः कौशलके राजाने इनसे क्षमा याचना की और जो राज्य ले लिया था वह वापिस दिया, तथापि मंत्रीको काशीराजके सुपुर्द कर दिया।[4] इसी तरह

१–पद्मपुराण पृ० ३३२। २–इन्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टरली भाग १ पृ० १५४। ३–कॉवेल, जातक, भाग १ पृ० २४३। ४–पूर्व० पृ० १२८–१३३।

एक अन्य जातकमें कौशलके राजा दब्बसेन द्वारा काशीके एक राजाके पकड़े जानेका उल्लेख है। दब्बसेनने राजाको हथकड़ी-बेड़ी डलवा कैद कर दिया था, परन्तु वह अपने ध्यानके बल ऊपर आकाशमें बैठे नजर आए। यह देखकर दब्बसेनने उनसे क्षमा प्रार्थना की और उनका राज्य उन्हें वापिस दे दिया।[१] एक दूसरे जातकमें लिखा है कि कौशलके राजकुमार दीघावुने काशीके राजाको वनमें सोता पाकर पकड़ लिया। इस राजाने यद्यपि दीघावुके माता-पिताको तलवारके घाट उतारा था, पर इसने उसको मारा नहीं; प्रत्युत जरा ही धमकाकर उसे मुक्त कर दिया। इसपर राजाने उसे अपनी पुत्री परणा दी और उसका राज्य उसे वापस दे दिया।[२] सारांशतः इन जातक कथाओंसे काशी-कौशलका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट प्रगट है। जैन शास्त्रके इस कथनसे कि रामचन्द्रजी कौशलाधीश दशरथकी आज्ञासे काशीमें राज्य करने लगे थे, यह स्पष्ट होजाता है कि अवश्य ही एक समय काशीपर कौशलका अधिकार था।[३] फिर श्री ऋषभनाथजीके तीर्थकालमें भी काशी कौशलाधिप सम्राट् भरतके आधीन थी,[४] परन्तु भगवान पार्श्वनाथके समयमें उनमें आपसमें मित्रता थी और वे स्वतंत्र थे, यह प्रकट होता है; क्योंकि अयोध्याके राजा जयसेनका पार्श्वभगवानको मित्रवत् भेंट भेजनेका उल्लेख जैनशास्त्रोंमें मिलता है।[५] इस प्रकार काशी और कौशलका पारस्परिक सम्बन्ध उस जमानेमें था।

१–जातक भाग ३ पृ० २०२। २–जातक भाग ३ पृ० १३९–१४०। ३–उत्तरपुराण पृ० ३६९। ४–आदिपुराण पर्व २६–३३। ५–पार्श्वपुराण (बंबई) पृ० ११४।

काशीके योद्धा बड़े वीर और बलवान होते थे यह 'सतपथ ब्राह्मण'के एक कथनसे प्रमाणित है। वहां राजा जनकके दरबारमें याज्ञवल्क्य एवं अन्य ऋषियोंके मध्यवर्ती संवादमें गार्गी यह कहती है कि मैं उसी तरह केवल दो प्रश्न पूछूंगी जिस तरह काशी अथवा विदेहोंके योद्धा अपने तरकसको संभालते हुए धनुषपर शत्रु भेदी दुफला बाण चढ़ाकर संग्रामके लिए उद्यमी होते हैं।[१] इन वीर योद्धाओंसे परिपूर्ण काशीका राज्य भगवान पार्श्वनाथके समय अवश्य ही विशेष प्रख्यात् था। मद्रदेश (पंजाब) के मद्रवंशीय क्षत्रियोंसे भी इस राज्यका प्राचीन सम्बन्ध था[२] और नागवंशी राजा भी यहांके राजाको अपने नागभवनमें बड़े आदरसे लेगये थे।[३]

भगवान पार्श्वनाथके समय काशी और उसकी राजधानी वाराणसी बहुत ही विख्यात् थे, यह हम देख चुके हैं। वाराणसीमें बड़े२ ऊंचे भव्य जिनमंदिर और सुन्दर कई कई खनके राजमहल अपूर्व शोभा देते थे।[४] वहांके बाजार सर्व प्रकारकी वस्तुओंसे परिपूर्ण थे। जौहरी लोग करोड़ों रुपयोंका व्यापार प्रतिदिवस किया करते थे। स्त्री और पुरुष भी बड़े ही शिष्ट और धर्मवत्सल थे। इसी कारण वहां हरकोई सुखी सुखी कालयापन करता था। किसीको सहसा यही नहीं मालूम होता था कि संसारमें दुःख भी कोई वस्तु है। उन लोगोंके पुण्य-प्रभावसे नगर भी खूब उन्नतिको प्राप्त था और राजा भी उन्हें न्यायनिपुण, बुद्धिमान और प्रजाहितैषी

१-सम क्षत्रिय ट्राइब्स इन एशि० इन्डिया पृ० १३६। २-पूर्व पुस्तक पृ० २२३। ३-पूर्व पृष्ठ २४१। ४-लाला लाजपतराय अपने 'भारतवर्षके इतिहास' (भाग १ पृ० ११६) पर लिखते हैं कि ईसासे पूर्व ८०० से भारतमें ७-८ खनके मकान बनने लगे थे।

मिल गये थे। धर्मके साम्राज्यमें भला कमी किस बातकी रह सक्ती है! वहां तो स्वयं त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर भगवानका शुभागमन हुआ था! क्षेत्रके भाग्य खुल गये थे! उसका नाम दुनियांके कोने२में फैल गया था! सो भी तवहीके लिये नहीं बल्कि अनन्तकालके लिये! आज भी भारतीय काशीधामका नामोच्चारण करके अपनेको धन्य समझते हैं!

ईसवीसन् ६२९ और ६४४के मध्यवर्ती समयमें इस देशका पर्य्यटन करने ह्यूनत्सांग नामक एक चीन देशका यात्री आया था। सारे भारतका उसने परिभ्रमण किया था और पवित्र काशीराजके भी उसने दर्शन किये थे। इस पावन-स्थानको उसने उस समय तीन मील लम्बा और एक मील चौड़ा गंगाके पश्चिम तटपर स्थित बतलाया था।[1]

इस भव्य नगरमें उस समय राजा विश्वसेन राज्य करते थे। यह इक्ष्वाकवंशीय काश्यप गोत्री महान् क्षत्री थे। बड़े ही धीर-वीर और गंभीर प्रजापालक नृप थे। बलवान, सुंदर सौम्य शरीरके धारक दूसरे कामदेव ही जान पड़ते थे। जैनाचार्य इनके विषयमें कहते हैं किः—

"तत्पतिर्विश्वसेनाख्योप्यभूद्विश्वगुणैकभूः।
काश्यपाख्यसुगोत्रस्थ इक्ष्वाकुवंशखां शुमान् ॥३६॥
संशशी चकलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव।
प्रभुरिंद्रइवाभीष्टः फलदं कल्पशाखिवत् ॥ ३७ ॥
जिनेन्द्रपादसंसक्तो गुरुसेवापरायणः।
धर्म्माधार सदाचारी रूपेण जितमन्मथः ॥ ३८ ॥

१—कनिंघमं, जारारफी ऑफ ऐन्शियेण्ट इन्डिया 'नया' पृ० ४९९।

दात्ताभोक्ता विचारज्ञो नीतिमार्गप्रवर्तकः ।
गुणी प्रजाप्रियो दक्षः ज्ञानत्रयविभूषितः ॥ ३९ ॥"×

वहांके राजा विश्वसेन सचमुच चंद्रमाके समान कलाधर थे और उनका तेज सूर्यके समान था। वह कल्पवृक्षोंकी तरह सबको संतुष्ट करनेवाले थे। जिनेन्द्र भगवानके चरण-कमलोंमें परम आसक्त थे। भगवान नेमिनाथके पवित्र तीर्थमें विचरते हुये सर्व हितैषी, तिलतुषमात्र परिग्रह रहित परमविवेकी निर्ग्रंथ गुरुओंकी वह सदा सेवा किया करते थे। मुनिराजोंको विधिपूर्वक पड़गाह कर भक्तिसे गद्गद होकर वह राजा पुण्यके द्वार आहारदानको दिया करते थे। उन सद्गुरुओंके वचनामृतका पान तृषित चातककी भांति वह नित्य ही करते था। धर्माचरण और सदाचारके पालनमें वह कोई को कसर उठा न रखते थे। कामदेवको लजानेवाले रूपको धारण किये हुये वह दान देनेके लिये दाता थे। भोगोपभोगकी सामिग्रीका उपभोग करनेके लिए भोक्ता थे और राज्यरक्षाका समुचित प्रबंध करनेके लिये विचारज्ञ थे। फिर भला ऐसे धर्मवत्सल नृपका प्रवर्तन नीतिमार्गमें होना स्वाभाविक ही था। वह गुणी था—प्रजाप्रिय था और पूर्ण दक्ष था। और तो और मति, श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे विभूषित था। इसलिये वह साधारण मनुष्योंसे कुछ विशेष था!

इन प्रजावत्सल महाराज विश्वसेनकी पट्टरानीका नाम ब्रह्मदत्ता था। वह महीपालपुरके राजा महीपालकी पुत्री थी। जैसे ही राजा विश्वसेन रूप और गुणोंमें अद्वितीय थे वैसी ही वह उनकी प्रिय अर्द्धांगिनी थीं। उनको पाकर राजाके निकट 'सोनेमें सुगंधि'की

× श्री सकलकीर्ति आचार्य विरचित 'पार्श्वचरित' सर्ग १० श्लो० ३६-३९.

उक्ति चरितार्थ हुई थी। वह रानी महा शीलवान् और गुणोंकी खान थी। जिस तरह वह अपने सौन्दर्यमें एक थी वैसे ही वह विद्या और कलाओंमें परमप्रवीण थी। नृप विश्वसेनके चंचल मनको वह अपने रूप और गुणोंसे स्थिर करनेमें चतुर थी। उनकी महिमाका वर्णन जैन कविके निम्न पद्योंद्वारा करना ही पर्याप्त है:—

"नखसिख सहज सुहागिनि नार, तीन लोक तियतिलक सिंगार!
सकल सुलच्छन मंडित देह, भाषा मधुर भारती येह॥
रंभा रति जिस आगे दीन, रोहिनिरूप लगे छबि छीन।
इन्द्रबधू इमि दीसै सोय, रविदुति आगे दीपक लोय॥
जनम हरष बढ़ावन एम, कातिक-चन्द्र-चंद्रिका जेम।
सकल सार गुनमनिकी खानि, सीलसम्पदाकी निधि जानि॥
सज्जनताकी अवधि अनूप, कला सुबुधिकी सीमारूप।
नाम लेत अघ तजै समीप, महा-पुरुष-मुक्ताफल-सीप॥
त्रिभुवननाथ रत्नकी मही, बुधिबल महिमा जाय न कहीं।
बहुबिध दम्पति संपति जोग, करैं पुनीत पुन्य फल भोग॥"+

इन ललना—ललाम महाराणी ब्रह्मदत्ताकी संगतिमें महाराज विश्वसेन आनन्दसे कालयापन कर रहे थे। समुचित रीतिसे प्रजाका पालन करते थे और धर्माचरण एवं शास्त्रमनन द्वारा आत्म कल्याण करते थे। बनारसकी प्रजा भी उनकी छत्रछायामें परम सुखी थी। श्रावकोंके षडावश्यक कर्मोंका उस नगरीमें खूब पालन होता था। अहिंसाधर्मका प्रभाव वहां चहुंओर व्याप्त था। सोनेके कलशोंसे मंडित अपूर्व कारीगरीके जिनमंदिरोंमें प्रतिदिवस आत्म-रूपकी सुध दिलानेवाली, चंचल मनको सर्वज्ञ भगवान्के गुणोंमें अनुरक्त करनेवाली एवं महापुरुषोंकी नीतिकृतज्ञता ज्ञापनकी मर्या-

+ कविवर भूधरदास कृत "पार्श्वपुराण" पृ० ८३।

दाको बतलानेवाली—स्वर्ग और मोक्षका साक्षात् कारण जिनपूजा बड़े भक्तिभावसे होती थी ! उस समयके बनारसका सलौना दृश्य सबका ही मन हरनेवाला था। सब ही वहां आनन्दमग्न रहते थे। धर्मके प्रियकर धवल आलोकमें वहां किसी बातकी बाधा नहीं थी ! आज भी पुरातन वार्ताको प्रकट करनेवाला एक जैन मंदिर भेलूपुरामें विद्यमान है। इसप्रकार बनारस और उसके राजा विश्वसेनके दिग्दर्शन करके हम कृतार्थ होजाते हैं। अगाड़ी आइये, पाठक महोदय, प्रभुके पवित्र आगमनमें उनके दर्शन करलें।

---

(९)

भगवानका शुभ अवतार !

"अन्वितान्वित विपातिनूतनानेकरत्नरुचिमेचकं नभः।
आदधौतनुभृतामभित्तिकं चित्रमेतदिति विस्मितां मतिं ॥
आस्खलन्निपतदिंद्रनीलनिर्भासजालबहलांधकारिते।
भातु मानुभिरभावि भावितव्योमनि क्वचिदकांडकुंठितैः॥"

—श्री पार्श्वनाथ चरित्र।

बनारस अद्वितीय शोभाको धारण किये हुये था ! 'भावी तीर्थंकरका जन्म होनेवाला है' यह जानकर सुरगणोंकी विभूतिसे उसकी शोभा और भी बढ़ गई थी। इन्द्रकी आज्ञासे कुवेरने भगवानको महारानी ब्रह्मदत्ताके गर्भमें आनेके छह महीने पहलेसे ही रत्नवृष्टि करना प्रारम्भ कर दी थी। इस अद्भुत वृष्टिकी चित्रविचित्र प्रभासे उस समय सारा आकाश ही रंगविरंगा होगया था। तथापि 'लगातार पड़नेवाले नवीन रत्नोंसे रंगविरंगा दीख पड़ने

वाले आकाशने वहांके लोगोंकी बुद्धिको उस समय विस्मित कर दिया था और विना किसी प्रकारकी रुकावटके धड़ाधड़ पड़ती हुई इन्द्रनीलमणियोंकी कांतिसे अंधकारित आकाशमें सूरजकी किरणें असमयमें ही कुंठित होगई थीं।'[१] कभी पद्मरागमणियोंकी वर्षासे आकाश लाल होजाता था तो कभी सुवर्ण वर्षासे पीला ही पीला नजर आता था। सचमुच रत्न आदि निधियोंकी उस समय इतनी वर्षा हुई थी कि उनको ग्रहण करनेवालोंकी तृष्णा भी सकुचा गई थी।

इन्द्रकी आज्ञा पाकर छप्पन दिक्कुमारियां भी शीघ्र ही बनारसमें आई थीं। विशाल और उन्नत राजभवनमें प्रवेश करके उनने रानी ब्रह्मदत्ताके दर्शन पाके अपनेको कृतार्थ माना था। उस अनुपम रूपवान् रानीकी वन्दना करके वे देवियां उसकी सेवा करने लगीं। 'कोई तो महाराणीका उवटन करने लगी, जिसके कारण वह विश्वसेनकी प्रियतमा अमृतमयी मरीखी सुशोभित होने लगीं और कोई उसे सुन्दर अलंकार एवं चन्दनहार पहनाने लगी जिससे उस रानीका मुख ताराओंसे वेष्टित चंद्रबिम्ब जैसा सुन्दर दिखने लगा।'[२] कभी वे देवियां उसके मनको अलौकिक नाच नाचकर मुग्ध करतीं तो कभी मनोहर रागोंको अलाप कर उसे प्रसन्न कर देतीं।' यह दिन उन महारानीके लिये बड़े ही मनोरम थे। उनकी सेवामें ये सुर-कन्यायें सदा उपस्थित रहती थीं। महारानी भी सदैव प्रसन्न-चित्त रहा करतीं थीं और धर्माराधनमें दत्तचित्त रहतीं थीं। महाराज विश्वसेन भी इस विभूतिको देखकर बड़े ही प्रसन्न होते थे।

वास्तवमें धर्मकी महिमा ही अपार है। पुण्य प्रभावसे अलौ-

१-पार्श्वचरित (कलकत्ता) पृ० ३४२। २-पूर्व० पृ० ३४०-३४१।

किक बातें भी धर्मात्माके निकट अपनी अलौकिकता खो बैठतीं हैं। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो धर्मसे बढ़कर हो और उसकी आराधनासे वह मिल न सके ! और न ऐसा कोई कार्य है जो धर्म-प्रभावसे सुगम न होजाय ! भौतिकवादके वर्तमानकालमें रहते हुये साधारण मनुष्योंके लिये अवश्य ही यह सब आश्चर्य भरी बातें हैं, परन्तु जिसे आत्माकी अनन्त शक्तिमें विश्वास है, उसके लिये यहां विस्मयको कोई स्थान ही शेष नहीं है। देव भी कोई विशेष पुण्यवान् जीव हैं, यह आज पाश्चात्य भौतिकवादी भी स्वीकार करने लगे हैं। ब्राह्मण और बौद्धग्रन्थ भी प्राचीनकालमें यहां देवोंके आगमनका वर्णन करते मिलते हैं। इस दशामें जैनशास्त्रोंके उक्त कथनमें विस्मय करना वृथा ही है। अस्तु !

एकदा राजदरबार लगा हुआ था। मंत्री, सेनापति, राजकर्मचारी और सब ही दरबारी अपने२ स्थानपर बैठे हुये थे। राजा विश्वसेन भी राज्यसिंहासन पर विराजमान थे, राज्यछत्र लगा हुआ था, चंवर ढोले जारहे थे। इसी समय अन्तःपुरवाले मार्गकी ओरसे जय-जयकारका घोष सुनाई दिया। देखते ही देखते परिचारिकाओंसे वेष्टित महारानी ब्रह्मदत्ता वहां आती हुई दिखलाई दीं। दरबारियोंने यथोचित रीतिसे महाराणीका स्वागत किया और राजा विश्वसेनने बड़े आदरसे उन्हें अपने पास आधे आसनपर बैठा लिया। सचमुच उस समय दरबारी तो ऐसे मालूम होते थे जैसे तारे हों और राजा विश्वसेन उनमें चांद सरीखे थे, तथापि महाराणी उनके बीच चंद्रिकाके अनुरूप विकसित हो रहीं थीं। इस अवसर पर सब ही लोग उत्सुकतासे महाराणीके

आगमनका कारण जाननेको उत्कण्ठित हो उठे। महाराणी भी बड़े मिष्ट स्वरमें विनयके साथ शिष्ट वचनोंमें 'शत्रुओंके मुकुट-मणिकी आभासे चमचमाते हुए चरणकमलवाले' अपने पति राजा विश्वसेनसे यों कहने लगीं कि 'हे देवोंके प्रिय आर्य ! आज रात्रिको जिस समय मैं सो रही थी तो उस समय रातके पिछले पहरमें मुझे हाथी, बैल, सिंह, कमल, पुष्पमाल, सूर्य, युगल, मीन, कलश आदि सोलह स्वप्न दिखाई पड़े थे, तथापि गजको मुखमें प्रवेश करता हुआ जानकर मैं रोमांचित ही होगई थी। हे आर्य ! तब ही से मुझे आपके निकट आकर इन स्वप्नोंका फल जाननेकी उत्कण्ठा लग रही थी। प्रिय ! प्रातः होते ही नित्यकी शौचादि क्रियायों और भगद्भजनसे निर्वृत होकर मैं आपकी सेवामें उपस्थित हुई हूं। महाराज ! इन स्वप्नोंका फल बतलाकर मेरे चंचल मनको शांत कीजिए।'

राजा विश्वसेन अपनी प्रिय अर्द्धांगिनीके मुखकमलसे यह वर्णन सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुये। उन्होंने अत्यन्त प्रियकर शब्दोंमें महाराणीके प्रश्नका उत्तर देना प्रारंभ किया और अपने दिव्य अवधिज्ञानके आधारसे उन्होंने उन सोलह स्वप्नोंका उत्कृष्ट फल रानीको यह बतलाया कि तेरे गर्भमें तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथके जीवका अवतरण हुआ है। रानी इस फलको सुनकर बड़ी ही हर्षित हुई मानों रंकको निधि ही मिल गई हो। दरबारी भी फूले अंग न समाये। सबहीने मिलकर आनंद उदधिमें गोते लगाए !

वह वैशाख मासका कृष्णपक्ष था और द्वितीयाकी तिथि थी कि रात्रिके अवसान समयपर महाराणी ब्रह्मदत्ताने त्रिलोकवन्दनीय

श्रीजिनेन्द्र भगवानको गर्भमें धारण किया था। नक्षत्र भी विमल विशाखा नक्षत्र था। जैनाचार्य इस शुभ घटनाका उल्लेख यूं करते हैं—

'अथ दिविजवधूपवित्रकोष्ठं जठरनिवासमुपेतमनिंतेंद्रम् ।
अवहद् दयिता नृलोकभर्तुः खनिरिव सारमणिं निगूढकांतिम् ॥'

अर्थात्—'जिसप्रकार छिपी हुई कांतिको धारण करनेवाली उत्कृष्ट मणिको, खानि अपने उदरमें धारण करती है, उसी प्रकार मनुष्य लोकके स्वामी राजा विश्वसेनकी प्रियतमाने आनत स्वर्गसे आये हुए भगवान पार्श्वनाथके जीव आनतेन्द्रको छप्पन दिक्कुमारियों द्वारा शुद्ध किये गये अपने उदरमें धारण किया।' (पार्श्वचरित पृष्ठ ३४९)।

इसप्रकार भगवान पार्श्वनाथ आनत स्वर्गसे चयकर महारानी ब्रह्मदत्ताके गर्भमें आगये। उनके गर्भमें आनेसे वह महारानी उसी तरह विशेष शोभित होने लगीं जिस तरह पूर्व दिशा प्रतापी सूर्यके उदय होनेसे मनोहर बन जाती है। भगवानके गर्भावतारका उत्सव भी विशेष सजधजके साथ मनाया गया था। देवलोकके इन्द्र और देवगण बनारसमें आये थे और उन्होंने जिनेन्द्रका 'गर्भ-कल्याणक' महोत्सव किया था, यह जैनशास्त्र प्रकट करते हैं।

महारानी ब्रह्मदत्ता वैसे ही विशेष गुणवती और विद्वान् थीं, परन्तु भगवानको गर्भमें धारण करनेपर उनने स्त्रियोंके स्वभावोचित सब ही गुणोंको सहज ही अपनेमें उदय कर लिया। भगवानका ऐसा दिव्य प्रभाव था कि गर्भके बढ़ते जानेपर भी महारानी ब्रह्मदत्ताका उदर नहीं बढ़ा था। भगवान उनके गर्भमें उसी तरह विराजमान थे, जिसतरह सरोवरमें कमल कीचड़से अलग रहता है।

यह तीर्थंकर भगवानकी पुण्य प्रकृतिका प्रभाव था। पूर्व जन्मोंमें उन्होंने किस प्रकार देवपूजा, गुरुभक्ति, व्रताचरण आदिकी उत्कृष्टतासे पुण्य संचय किया था, यह हम पूर्व प्रकरणोंमें देख चुके हैं। इन्हीं धर्मकार्योंके बल एक मत्त हाथीकी गतिमें पड़ा हुआ जीव आत्मोन्नति करके त्रिलोक वंदनीय परमात्मा होगया। रंकसे राव बन गया! हमारे लिये इससे बढ़कर और आदर्श क्या हो सक्ता है?

महारानी ब्रह्मदत्ताके नौमास बड़े ही आनन्दसे बीते। दिक्कुमारियां सदा ही उनकी सेवा सुश्रूषामें उपस्थित रहतीं थीं, वे उनकी रुचिके अनुसार ही विनोद क्रियायें करके उनके हृदयको प्रफुल्लित करतीं थी। जब वह गूढ़ अर्थको लिये हुये श्लोकोंका अर्थ महारानीसे पूछतीं थीं और वे यथोचित उनका उत्तर देतीं थीं, तब सचमुच यही भासने लगता था कि महारानीकी प्रखर बुद्धिको गर्भस्थ बालकके दिव्यज्ञानने और भी प्रकाशमान कर दिया है। इधर देवों द्वारा रत्नवृष्टि पहलेकी भांति होरही थी। जिसको देखकर महारानीका मन सदैव प्रसन्न रहता था। नियमित समयके पूर्ण होनेपर महारानीने पौष कृष्ण एकादशीके पवित्र दिन भगवान पार्श्वनाथको उसी तरह जना जैसे पूर्वदिशामें सूर्यका जन्म होता है। भगवानके आनंदमई जन्मसे तीनों लोकके सब ही प्राणी हर्षित होगये। एक क्षणके लिये सब ही अपने दुःखोंको भूल गये। नर्कमें पड़े हुए दारुण दुःख सहते नारकियोंको भी उस समय सान्त्वना मिल गई! तीर्थंकर प्रकृतिका प्रभाव ही अजब होता है। आचार्य कहते हैं:—

'उपनतमुखसुप्रसन्नदिक्कं नियमितसर्वरजः कणानुबंधम् ।
जिनवरजनने जगत्समस्तं क्षणमिव मुक्तामभूदमुक्तरागम् ॥
नवपरिमल सौरभावकृष्टभ्रमदलिमेचकितान्मरुत्पथाग्रात् ।
अविरलबहला सुरद्रुमाणां नृपतिगृहे निपपात पुष्पवृष्टिः ॥'

अर्थात्–तीन लोकके नाथ भगवान जिनेन्द्रके जन्मते समय धूलिके करणोंके नियमित हो जानेपर समस्त दिशाएं निर्मल होगईं; उस समय क्षणभरके लिये समस्त जगत शांत होगया और उसके आनंदका पार न रहा। उस समय मनोहर सुगंधिसे खींचे गये जो भनभनाट करते हुये भ्रमर उनके संबंधसे चित्रविचित्र और उत्कृष्ट सुगंधिको धारण करनेवाले कल्पवृक्षोंसे जायमान पुष्पोंकी वर्षा आकाशसे राजा विश्वसेनके मंदिरमें होने लगी। (पार्श्वचरित पृ० ३४७)।

देवोंके सचिव इन्द्रका आसन कंपायमान होगया, कल्पवासी देवोंके विमानोंमें स्वयं घंटे बजने लगे, ज्योतिषी गृहोंमें अपने आप सिंहनाद होने लगा, व्यन्तरोंके आवासोंमें भेरीका शब्द अकस्मात् हो निकला और भवनवासी देवोंके भवनोंमें शंखध्वनि होने लगी। सारांश यह कि सारे भूमंडलपर प्रसन्नताकी एक लहर दौड़ गई। जिस प्रकार विनाःतारकी तारवर्क्की (Wireless Telegraphy) द्वारा एक विद्युत लहर वातावरणमें व्याप्त होकर निर्दिष्ट स्थानोंके कलपुर्जोंको चलायमान कर देती है, उसी प्रकार श्री तीर्थंकर भगवानके जन्मसे एक ऐसी आनंदभरी विद्युत लहर सारे संसारमें फैल गई कि स्वयं सर्वत्र हर्ष ही हर्ष छागया ! प्राकृत रूपमें ऐसी घटना घटित होना अनिवार्य थी।

देवोंने जब उक्त घटनाओंके बल श्री तीर्थंकर भगवानका

कल्याणकारी जन्म हुआ जाना, तो वे बनारसकी ओर चल दिये। बड़ी सजधजके साथ सौधर्मेन्द्र भी आया एवं और सब देव भी आये। सबोंने मिलकर बड़ा भारी आनंदोत्सव मनाया। आखिर सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे शचीने महारानी ब्रह्मदत्ताको निद्राके वशीभूत कर दिया और एक मायामई बालक उनके पास लिटाकर वह बालक भगवानको इंद्रके पास ले आई। इन्द्र अनुपम बालकको देखते ही गद्गद होगया। उनके अपूर्व रूप लावण्यको दो आंखोंसे ही देखकर वह तृप्त न हुआ; बल्कि अपनी तृष्णाको मेटनेके लिये उसने अनेक कृत्रिम नेत्र बनाकर बालक—भगवानके दर्शन किये और उनकी विशेष रीतिसे स्तुति की। उपरान्त भगवानका जन्माभिषेक करनेके लिये वह सुमेरुगिरि पर्वतपर लेगया। वहांकि पांडुकवनमें रत्नजटित शिलापर भगवानको विराजमान किया और क्षीरसागरका निर्मल जल देवोंद्वारा मंगवाकर उसने भगवानका अभिषेक १००८ कलशोंद्वारा किया। उस समय अद्भुत उत्साह चहुं-ओर दृष्टि पड़ने लगा। सब ही सुरांगणाएं जयजयकार करने लगीं! एक कोलाहलसा मच गया! जैन कवि भगवानके अभिषेक संबंधमें कहता है कि:—

'जा धारासों गिरिसिखर, खंड खंड हो जाय।
सो धारा जिन देहपै, फूलकली सम थाय॥
अप्रमान वीरज धनी, तीर्थंकर प्रभु होय।
तातैं तिनकी सकतिकौं, उपमा लगै न कोय॥
नीलवरन प्रभु देहपर, कलस-नीर छबि एम।
नीलाचल सिर हेमके, बादल बरसें जेम॥
चली न्हौनके नीरकी, उछल छटा नभ माहि।

स्वामि संग अघबिन भई, क्यों नहिं ऊरध जाहि ॥
न्हौन छटा तिरछी भई, तिन यह उपमा धार।
दिग वनिता–मुख सोहियै, करनफूल उनहार ॥'

इस प्रकार न्हवन कर चुकनेपर इन्द्र और शचीने बड़ी विनयसे बालक भगवानकी पूजा की और फिर वह भगवानसे विनय करने लगा कि 'हे भगवन्! आपकी कृपास्वरूप आत्महितके विना अनादिकालसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रबल कर्मोंका नाशक विवेक स्वरूप नेत्र लोगोंको प्राप्त नहीं होसक्ता। आपकी कृपा विना वे कर्मोंके नाशके लिये समर्थ नहीं होसक्के।' इसी तरह बहुत देरतक विनय कर चुकनेपर सब देवलोग बनारस लौट आये।

इन देवोंको इस प्रकार सजधजके साथ आता हुवा देखकर राजा विश्वसेनको बड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु इन्द्रने राजाको सब भेद बतला दिया और कहा कि नियमानुसार देवगण भगवानके गर्भ, जन्म आदि पांच कल्याणकोंपर उत्सव मनाने आते हैं, उसी अनुरूप मैंने भगवानका जन्मकल्याणक उत्सव मनाया है। यह कहकर आचार्य कहते हैं कि इन्द्रने इस प्रकार भगवानका नाम रक्खा।

'अनुपमसुखधामपार्श्ववृत्त्या सकलजगद्विषय प्रभावभूम्ना।
सविनयमयमुच्यतां समस्तैर्भुवनगुरुर्वसुधेश पार्श्वनाथः ॥५७॥'

अर्थात्–ऐसा कहकर इन्द्रने, उस समय भगवान जिनेन्द्रके पार्श्व (पास) में अद्वितीय सुख और कांति दीख पड़ती थी और समस्त जगतपर उनका प्रभाव पड़ा हुआ था, इसलिये तीन लोकके स्वामी जिनेन्द्रका पवित्र नाम पार्श्वनाथ रख दिया।[१] (पार्श्व० पृ० ३६२)

१–विश्वसेननृपः सार्द्धं देव्या बंधुजनैस्तरां।
प्रीतिमापातिसाश्चर्यो दृष्ट्वातन्नाम्यमूर्जितं ॥ १०० ॥

फिर इन्द्रने बालक भगवानको राजा-रानीके सुपुर्द कर दिया और उनकी बड़ी विनयसे पूजा की। इसपर सब देवोंने मिलकर सबके मनोंको मोहनेवाला अद्भुत नाट्य रचा जिसे देखकर राजा और रानी एवं सब ही उपस्थित भव्यगण बड़े ही आनंदमग्न हुये। इसके बाद इन्द्र और सब देवलोग अपने२ स्थानोंको चले गये।

राजा विश्वसेनने भी पुत्रका जन्मोत्सव बड़े ही ठाठवाटसे मनाया। सारी बनारस नगरी एक छोरसे दूसरे छोरतक जगमगा उठी और चहुंओर आनंद छा गया। बंदीगण मुक्त कर दिये गये, याचकोंको दान दिया गया और प्रजाका मान किया गया! और त्रिलोकवंदनीय तीर्थंकर भगवानको अपनी गोदमें धारण करके राजा-रानी अपने भाग्यकी सराहना करने लगे। पूज्य भगवानके माता पिता होनेसे बढ़कर और कौनसा पद संसारमें श्रेष्ठ है? वही सर्वोत्कृष्ट है। अतएव हम भी यहांपर जन्मोत्सव प्रकरणमें भगवान और उनके मातापिताके निकट नतमस्तक हो लेते हैं।

नयतीति एव पार्श्वे यो भव्यान तोहि सार्थकं।
अस्य चक्रुः सुराः पार्श्वनामपित्रोः प्रसाक्षिकं ॥ १०१ ॥ सर्ग २३
—इति सकलकीर्तिः।

(१०)

कुमारजीवन और तापस समागम!

'हिमकरमुखमंबुजोपमाक्ष पुरपरि धायतबाहु तुच्छमध्यम्।
पृथुतर विलसद्विशाल वक्षस्तरलतमाल रुचिप्रकाश रुच्यम्॥६१
अतिसित रुधिरं सरोजगंधि व्यपसृत धर्मजलं मलादपोढम्।
प्रसकल शुभलक्षणोपपन्नं प्रथमक संहननं मनोज्ञ कांतिम्॥६२
कुलगिरितल भूमि संधिबन्धं श्लथपरिहास विधिक्षमं जवेन।
वपुरथ परमेश्वरेण बभ्रे शतमख हस्तसरोजराजबिंबम्॥६३॥'

—पार्श्वनाथचरित्र।

तीनों लोकोंको सुख दाता जिनेन्द्र पार्श्वनाथका जन्म हो गया। वे बालक भगवान शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी तरह धीरे२ बढ़ने लगे, शिशु अवस्थाकी कोमल मुस्कान और सरल अठखिलियोंसे माता-पिता और बंधुजनोंका मन हरने लगे, देखते २ वे अटपटे पैरोंसे चलने भी लगे। अपने प्रफुल्लित मुख और बाल्यकालीन चंचल क्रीड़ाओंसे सबको बड़े ही प्रिय लगने लगे। कभी आप उझककर धायसे दूर भाग जाते; तो कभी रत्नजड़ित दीवालोंमें अपनी परछाई देखकर उसको पकड़नेको कोशिष करते। इस तरह बाललीला करते वह आठ वर्षके होगये। इस नन्हींसी उमरमें ही उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी और वे नैतिक आचारकी मर्यादाका पालन करने लगे थे। जैन शास्त्र कहते हैं कि इसी समय आपने श्रावकोंके अणुव्रतोंको धारण किया था।[1] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील

१-वर्षाष्टमे स्वयं देवस्त्रिज्ञानज्ञः संपचधा।
आददेणुव्रतान्येव गुणशिक्षाव्रतानि च॥ १७॥

और परिग्रहका एकदेश—आंशिक त्याग कर दिया था । वह जान बूझकर इन दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होते थे । ऐसे विवेकमय आचरणका अभ्यास करते हुये, वह आनन्दसे सुर—कुमारोंके साथ अनोखे खेल खेला करते थे ।

उनका शरीर जन्मसे ही मल, मूत्र, पसीना आदिसे रहित बड़ा ही स्वच्छ था ।[१] उसमेंका रुधिर दूधके समान सफेद था । वह परमोत्कृष्ट शक्तिकर परिपूर्ण था । जैनशास्त्रोंमें उसे 'सुसमचतुरसंठान शरीर' बतलाया गया है । उसमें स्वभावतः एक प्रकारकी प्रिय सुगंधि आती थी और वह 'सहसअठोत्तर' लक्षणोंसे मंडित था । सचमुच जैसे वे भगवान महापुरुष थे वैसा ही उनका सुभग शरीर था । एक जैनाचार्य उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान पार्श्वनाथके शरीर सौन्दर्यका वर्णन यूं करते हैं:—

'भगवान जिनेन्द्रका मुख चन्द्रमाके समान था । नेत्र कमलके समान थे, भुजा परिघाके समान विशाल थीं । कटिभाग पतला और वक्षःस्थल मनोहर किंतु विशाल था । एवं शरीरकी कांति तमालवृक्षके समान मनोहर थी । उनका शरीर सफेद रुधिरका धारक कमलके समान सुगंधिवाला, स्वेदजल, मलमूत्रादिसे रहित, समस्त शुभ लक्षणोंका धारक, वज्रवृषभनाराच नामक उत्तम संहननसे युक्त, महामनोहर, कुलपर्वतकी भूमिके समान संधियोंका धारक और कड़ा

सप्तधा स्वर्गकर्त्री निस्वयोग्यान्य पराण्यपि ।
त्रिशुद्धयान्यरतीचाराणि सागार वृषाप्तये ॥ १८ ॥
—पार्श्वचरित सर्ग १४ ।

१–'तित्थयरा तप्पियरा हलहर चक्काइं वासदेवाइं ।
पडिवास भोयभूमिय आहारो णत्थि णीहारो ॥'

था एवं उसमें इन्द्रके मनोहर करकमलोंकी विंब पड़ती रहती थी अर्थात् सदा उसकी सेवा इन्द्र किया करता था।'[१]

इसप्रकार अपूर्व सौन्दर्यके आगार भगवान पार्श्वनाथ कुमार अवस्थाको प्राप्त हुये! क्रमकर उनके नीलवर्णमई नौ हाथ ऊंचे शरीरमें यौवनके चिन्ह प्रकट हुये। वे भगवान शीघ्र ही युवावस्थाको प्राप्त होगये; किन्तु यहांपर हमें भगवानकी शिक्षा–दीक्षाके सम्बंधमें कुछ अधिक विचार कर लेना चाहिये। मानवताका जो महत्व है उसे देख लेना हमें इष्ट है। मनुष्य होकर हमें अपने पूज्य तीर्थंकर भगवानके दर्शन मनुष्यरूपमें करनेकी लालसा करना स्वाभाविक है। किन्तु हतूभाग्यसे वह इतने प्राचीनकालमें हुये हैं कि जिसका इतिहास पूर्णतः ज्ञात नहीं है और जिससे उनके विषयमें कुछ अधिक स्पष्ट रीतिसे कहा नहीं जासक्ता है। जो कुछ जैन शास्त्रोंमें उनके बाल्य और कौमार कालोंका विवरण मिलता है उनसे यही ज्ञात होता है कि भगवान नन्हीं आवस्थासे ही धार्मिक रुचिको धारण करनेवाले और नीतिमार्गका पालन करनेवाले व्रती श्रावक थे। वह इस छोटी अवस्थामें ही हमारे सामने एक अनुकरणीय आदर्शके रूपमें नजर आते हैं परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि उनकी शिक्षा किस प्रकार हुई थी। जैन शास्त्र तो कहते हैं कि वह जन्मकालसे ही मति, श्रुति, अवधिज्ञान कर संयुक्त थे, और इस तरह वे एक पूर्वनिर्मित मूर्तिकी भांति ही हमारे अगाड़ी रक्खे गये प्रतीत होते हैं। परन्तु यदि हम विशेष पुण्य प्रकृतिके अतुल प्रभावको ध्यानमें रक्खें तो इस प्रकार उनका जन्मसे ही विशिष्टज्ञानी होना कुछ

१–पार्श्वनाथ चरित पृ० ३६४।

असंगत प्रतीत नहीं होता। बेशक आजकलके जमानेके लिये यह एक बेढंगी और अटपटी बात है। किन्तु पहलेके आत्मवादी जमानेमें इसमें कुछ भी अलौकिकता नहीं समझी जाती थी। भगवान पार्श्वनाथ अवश्य ही हम आप जैसे एक मनुष्य थे, परन्तु उन्होंने इस उत्कृष्टताको अपने इसी एक भवमें नहीं पाया था, बल्कि अपने पहलेके नौ भवोंसे ही वे इतनी उन्नति करते चले आरहे थे कि इस भवमें आकर उनकी आत्मा परमोच्चपदको प्राप्त हुई थी। इस विकाश क्रमको हमें नहीं भुला देना चाहिये और इसमें आश्चर्य करनेको कोई स्थान शेष नहीं रहता है। जैनशास्त्र आपके शिक्षादिके सम्बन्धमें यही कहते हैं। यथाः—

'मतिश्रुतावधिज्ञानान्येवास्य सहजान्यहो ।
भैरबोधिसनिः शेषं तत्वं विश्वं शुभाशुभं ॥ ११ ॥
कलाविज्ञान चातुर्यं श्रुतज्ञानं महामतेः ।
विश्वार्थावगमंतस्य स्वयं परिणतिं ययौ ॥ १२ ॥'

भगवान मति, श्रुति, अवधिज्ञान द्वारा जन्मसे ही विभूषित थे। कला, विज्ञान, चातुर्यतामें उनकी समानता कोई कर नहीं सक्ता था। विश्वभरकी सर्व विद्यायें आपको स्वयं प्राप्त हुई थीं। यह महापुरुषोंके लिये कोई अनोखी बात नहीं है, तिसपर भगवान पार्श्वनाथ तो उपरान्त अनुपम साक्षात् परमात्मा ही हुये थे। अस्तु;

एक रोज सभा लगी हुई थी। राजकुमार पार्श्वनाथ प्रसन्न चित्त हुए अपने सखाजनोंके साथ आनन्दगोष्ठि कर रहे थे। इसी समय वनपाल—मालीने आकर राजकुमारसे वनमें किसी एक साधुके आगमन सम्बन्धी समाचार सुनाये। राजकुमार पार्श्वनाथने अपने अवधिज्ञान (Clairovoyance)से काम लिया। उन्होंने उस

साधुके रूपको जानकर वहां जाना ही आवश्यक समझा। सखा-जनों और अंगरक्षकों सहित बड़े ठाठ-बाटसे वे हाथीपर सवार होकर बनविहारके लिये निकले। विहार करते २ वहीं पहुंच गये जहां वह साधु आया हुआ ठहरा था। राजकुमारने देखा यह साधु उनका नाना महीपाल है, जो अपनी रानीके विरहमें व्याकुल होकर तापसी होगया है और पंचाग्नि तप रहा है। राजकुमारको उसकी इस मूढ़क्रियापर बड़ा तरस आया। वे सरल स्वभाव उसके पास जा खड़े हुये। तापसी यकायक पार्श्वनाथको चुपचाप अपने पास खड़ा देखकर क्रोधके आवेशमें आगया। वह बोला—"मैं ही तुम्हारा नाना हूं, और राज्यविभूतिको पैरोंसे ठुकरा कर आज कठोर तप-श्चरणका अभ्यास कर रहा हूं; फिर भी तुम्हें इतना घमण्ड है कि मुझे प्रणाम करना भी तुम बुरा समझते हो। प्रणाम करनेमें तो तुम्हें शर्म ही आती है न?"

राजकुमार पार्श्वनाथने तापसीके इन कटु वचनोंसे जरा भी अपने चित्तको विषादयुक्त नहीं बनाया! उन्होंने सहज ही जान लिया कि वह कितना सन्यास परायण है और उत्तरमें कहा कि—'अज्ञानी होकर यह हिंसामय तप, हे तापस! तुम क्यों तप रहे हो?' इतना सुनना था कि तापस आग बबूला होगया! उसकी भड़की हुई क्रोधाग्निमें राजकुमारके उक्त शब्दोंने घीका ही काम किया। पूर्वभवका इनका आपसी संयोग ही ऐसा था। यह तापस कमठका ही जीव था, जो नर्कसे निकल कर अनेक कुयोनियोंमें भटककर किंचित् पूर्व पुण्य-प्रभावसे महीपालपुरका राजा हुआ था और फिर तापसका वेष धारण करके इस समय राजकुमारके प्रति रोष

प्रकट करते हुए अपने पूर्व वैरको दर्शा रहा था ! वह तड़प कर बोला, "चल रहने दे । तू इस समय निरंतर होनेवाली सम्पत्तिसे उन्मत्त है, अन्यथा और कोई मनुष्य मुनियोंसे ऐसे अनुचित शब्द कैसे कह सक्ता है ?" यह कहकर वह राजकुमारसे विमुख होकर शांति होती हुई अग्निको सुलगानेके लिए एक लक्कड़ फाड़ने लगा। भगवानने उसे बीचमें ही रोक दिया और कहा 'यह अनर्थ मत करो । इस लक्कड़की खुखालमें अन्दर सर्पयुगल हैं । वह तुम्हारी कुल्हाड़ीके आघातसे मरणासन्न होरहे हैं । तुम व्यर्थमें ही उनकी हत्या किये डाल रहे हो । उन्हें आगमें मत रक्खो ।'

किन्तु भगवानके इन हितमई वाक्योंके सुनते ही वह तापस ताड़ित हाथीकी भांति गर्जने लगा। वह बोला," हां, संसारमें तूही ब्रह्मा है, तूही विष्णु है, तूही महेश है, मानो तेरे चलाये ही दुनिया चल रही है । तूही बड़ा ज्ञानी है, जो यहां ऐसा उपदेश छांट रहा है । यहां मेरे लक्कड़में नाग-नागिनी कहांसे आये ? मैं तेरा नाना और फिर तापस-तब भी तू मेरी अवज्ञा करते नहीं डरता है । "

आचार्य कहते हैं कि ' तपस्वीके कठोर वचन सुनकर भी त्रिलोकीनाथ भगवानको कुछ भी क्रोध न आया। वे हंसने लगे और हाथमें कुल्हाड़ी ले अधजलती लकड़ीको उनने फाड़ डाला । जलती हुई अग्निकी उष्णतासे छटपटाते हुए नाग और नागिनीको जिनेन्द्र भगवानने बाहर निकाला और अपने अलौकिक तेजसे तपस्वीके रूपको खंडबंडकर उसे क्रुद्ध कर दिया ।' (पार्श्वचरित पृ० ३७१)

उन नाग-नागिनीके दुःखसे भगवानका कोमल हृदय बड़ा ही

व्यथित हुआ। दयाके आगार उन सर्वहितैषी भगवानने उस तापससे कहा कि 'तुम व्यर्थ ही तपस्या करते हो। क्रोध आदि कषायोंसे तुम्हारा सब पुण्य नष्ट होगया ! हिंसामई काण्ड रचकर तुम तपस्या करनेका ढोंग क्यों रचते हो ? क्या तुम्हारे हृदयमें दया बिल्कुल नहीं है ? तुम्हारा यह सब तप अज्ञानतप है। कोरा कायक्लेश है, इसे भोगकर क्या लाभ उठाओगे ?'

तापस महीपाल वैसे ही कुढ़ रहा था। वह उन्मत्त पुरुषके समान कहने लगा कि 'तू बड़ा घमण्डी है। अकस्मात् यह सर्पयुगल इस लकड़में निकल आया उसपर तू फूला नहीं समाता है। तू अपनी पूज्य माताके पिताकी अविनय कर रहा है। देख मैं तापस होकर कितनी कठिन तपस्या करता हूं। पंचाग्नि तपता हूं—एक पैरसे खड़े रहकर एक हाथको आकाशमें उठाकर, भूख व प्यास सब कुछ चुपचाप सह रहा हूं, सूखे पत्ते खाकर पारणा करता हूं, फिर भी तुम मेरी तपस्याको ज्ञानहीन बताते हो !'

भगवानने फिर भी उसे मधुर शब्दोंमें समझाया। उससे कहा—"तापस, तुम क्रुद्ध मत हो। मैं तुम्हारी भलाईके वचन कह रहा हूं। तुम्हारा तपश्चरण इतना सब होनेपर भी हिंसामय है और तुम वृथा ही कायक्लेश भोग रहे हो। जरासी भी हिंसा महादुःखका कारण है, और तुम रोज ही हिंसाकांड रचते हो, इसका पाप फल तुम्हें जरूर ही चखना होगा। 'ज्ञानहीन तपस्या चांवलकी कणिकाके भूसेके ढेरके समान है। अग्निके प्रकोपसे जब बन जलने लगता है, तब लोग रास्ता न पाकर जिस प्रकार यहां वहां भागकर अन्तमें अग्निमें ही जलकर प्राण देदेते हैं, अज्ञानी तापस ठीक

उसी तरह कायक्लेश भोगकर संसारकी अग्निमें ही जलकर भस्म हो जाते हैं।'* सम्यक्श्रद्धान और सम्यग्ज्ञानके विना आचार निष्फल है। मैं तुम्हारी हितकी ही कह रहा हूं, इस हिंसामई कायक्लेशको छोड़ो और जिनेन्द्र भगवानके बताये हुये मुक्तिमार्गका रास्ता गृहण करो।"

हत्भाग्यसे भगवानके इन हितमई वचनोंका भी असर उस तापसपर कुछ भी नहीं हुआ। दुर्जन कभी भी सदुपदेशको ग्रहण करते नहीं देखे गये हैं। भगवान जिनेन्द्र अपने राजमहलमें लौट आये और आनन्दमग्न हो कालक्षेपण करने लगे। वह तापसी काय-क्लेशके प्रभावसे मरकर संवर नामक भवनवासी देव हुआ।

---

(११)

धरणेन्द्र-पद्मावती-कृतज्ञता-ज्ञापन ।

'पद्मावती च धरणश्च कृतोपकारं।
तत्कालत्जातमविधं प्रणिधाय बुद्ध्वा ॥
आनम्रमौलि रुचिरच्छविचर्चितांघ्रि।
मानर्चतुः सुरतरु प्रसवैर्जिनेंद्रम् ॥ ८७ ॥'
—श्री पार्श्वचरित।

बनारसके वनमें आये हुये तापस महीपालकी कृपासे एक सर्पयुगलके प्राणान्त भगवान पार्श्वनाथके समागममें हुये थे, पूर्व परिच्छेदमें यह परिचय प्राप्त होचुका है। वस्तुतः उन मरणासन्न सर्पयुगलको राजकुमार पार्श्वनाथने धर्मोपदेश सुनाकर सुगतिमें पधरा दिया। णमोकार मंत्रके श्रवण मात्रसे उनके परिणाम सम-

---

* 'भगवान पार्श्वनाथ' (सागर) पृ० २७।

तारूप होगये और वे समताभावोंसे प्राण विसर्जन करके इसी लोकमें भवनवासी देव हुये ! अन्तिम समयमें धर्माराधन करनेका मधुर फल उनको तुरत ही मिल गया। वे पशु होकर भी उसके पुण्य प्रभावसे देवगतिको प्राप्त हुये !

जैनशास्त्रोंमें देवगति चार प्रकारकी बतलाई गई है। स्वर्ग-लोकमें विमानोंमें वसनेवाले देव कल्पवासी कहे जाते हैं; सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषपटलमें रहनेवाले देव ज्योतिषी कहलाते हैं; भूलोकमें निवास करने वाले तथापि अधोलोकके पूर्वभागमें भी किंचित् वसनेवाले देव भवनवासी बतलाये गये हैं और व्यंतरदेव वे कहे गये हैं जो भूत, प्रेत आदि नामसे प्रसिद्ध हैं। इन देवोंके शरीर मनुष्योंसे विशिष्ट और सूक्ष्म तथापि विक्रिया (रूप बदलनेकी) शक्ति कर संयुक्त होते हैं। यह लोग मनुष्योंसे अधिक सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। आजकल 'प्रेत-विद्या' (Spiritualism) के बल कतिपय सिद्धहस्त लोग इनमेंसे इतर जातिके–भवनवासी और व्यंतर देवोंको आह्वाहन करनेमें सफल-प्रयास होचुके हैं और उन्होंने जो अन्य देवों और देवलोकोंका हाल बतलाया है, उससे यह बात स्पष्ट होगई है कि सचमुच कोई देवगति भी संसारमें रुलते हुए जीवको सुख–दुःख भुगतनेके लिये हैं। नाग-नागिनीके जीव भवनवासी देवोंमें नागकुमार नामक देवोंके इन्द्र और इन्द्राणी हुये थे। इसीलिये वे क्रमशः धरणेन्द्र और पद्मावतीके नामसे विख्यात् हुये हैं।[१]

१–जैनशास्त्रोंमें हमें कहीं भी धरणेन्द्र और पद्मावतीके सम्बन्धमें कोई स्पष्ट विवेचन नहीं मिला हैं कि वह जातिवाचक अथवा व्यक्तिगत नाम हैं, परन्तु पुराण ग्रंथोंमें हमें भगवान पार्श्वनाथसे पहले भी इनका

जब वे नाग और नागिनी धरणेन्द्र और पद्मावती होगये तो उसी समय अपने जन्मसिद्ध अवधिज्ञान (Clairovoyance) के बलसे उन्हें अपने उपकार करनेवाले राजकुमार पार्श्वनाथका ध्यान आया। 'वे शीघ्र ही बनारस आये और नम्रीभूत मुकटोंकी मनोहर कांतिसे जिनके चरण पूजित हैं ऐसे भगवान पार्श्वनाथकी उन्होंने पूजा की! बहुविधि पूजा करके और कृतज्ञता ज्ञापन करके वे अपने निवासस्थानको चले गये।'

जैन शास्त्रोंमें इनका निवासस्थान पाताल अथवा नागलोक बतलाया गया है।[1] यह स्थान जिस भूमंडलपर हम रहते हैं उस मध्यलोककी पृथ्वीके नीचे अवस्थित कहा गया है।[2] वहांपर इनके बड़े२ महल और भवन भोगोपभोगकी सुन्दर सामिग्रीसे पूर्ण हैं, यह शास्त्रोंमें लिखा हुआ है। प्रख्यात जैन ग्रन्थ श्री राजवार्तिकजीमें इसका उल्लेख इस तरह पर है:—

'खरपृथ्वीभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे

उल्लेख मिलता है। इससे हम इनके ये नाम जातिवाचक ही समझते हैं। उदाहरणके रूपमें 'संजयंत मुनि' की कथामें पद्मपुराण (पृ० ५६) में दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथजीके समयमें 'धरणेन्द्र' के प्रकट होनेका उल्लेख है। 'पुष्पांजलि व्रतकथा' तथा 'पुण्याश्रव कथाकोष' (पृ० २६०) में ऐसे ही 'पद्मावती' का सहायक होना पार्श्वनाथजीसे पहले बतलाया गया है।

१—पद्मावतीचरित्र—'पाताले वसिता।'—श्री बृहत्पद्मावतीस्तोत्र—पाताला-धिपति' श्लोक २२. हरिवंशपुराण पृष्ठ ३३—'मणि और सूर्यसमान देदीप्यमान पाताललोकमें असुरकुमार नागकुमार आदि दश प्रकारके भवनवासी देव यथायोग्य अपने२ स्थानोंपर रहते हैं।' २—तत्वार्थसूत्रम (S. B. J. Vol. II) पृ० ७९.

नवानां कुमाराणां भवनानि भवंति ॥ १० ॥ तद्यथा अस्माज्ज-म्बूद्वीपात्तिर्यगपाग संख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य धरणस्य नागराजस्य चतुश्चत्वारिंशत् भवन शतसहस्राणि, षष्ठि; सामानिक सहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकान् चत्वारो लोक-पालाः, षडग्रमहिष्यः, षडात्मरक्षसहस्राण्याख्यायंते।....तान्येतानि नागकुमाराणां चतुरशीतिः भवनशतसहस्राणि। इत्यादि।"[1]

खरपृथ्वीपर धरणेन्द्र अथवा नागराजके चवालीसलाख भवन मौजूद हैं। यह खरपृथ्वी इस जम्बूद्वीपके असंख्यात् द्वीपसमुद्रोंको व्यतीत कर जानेपर मिलती है। इनके छै हजार सामानिक देव हैं, तेतीस त्रायस्त्रिंशत् देव हैं, तीन परिषद् (सभायें) हैं; सात सेनायें हैं, छै अग्रमहिषी (पट्टरानी) हैं और छैहजार आत्मरक्षक हैं। वास्त-वमें जैनशास्त्रोंमें प्रत्येक प्रकारके देवोंके लिए दस दर्जे नियत किये हुये मिलते हैं; यथाः—

१. इन्द्र—यह राजाकी भांति मुख्य और शासक होता है।

२. सामानिक—यह भी बलवान और शक्तिसम्पन्न होते हैं, परन्तु इन्द्रके समान नहीं। इन्हें पिता, गुरु आदि समझना चाहिये।

३. त्रायस्त्रिंशत्—यह मंत्री, पुरोहित आदि कुल ३३ हैं। इसलिये इस नामसे उल्लेखमें आते हैं।

४. पारिषद्—सभाके सदस्यगण अथवा दरबारी लोग।

५. आत्मरक्षक—यह शरीररक्षक होते हैं।

६. लोकपाल—प्रजाके संरक्षक; जैसे पुलिस।

७. अनीक—फौज।

१—राजवार्तिक सटीक पृष्ठ १५४.

८. प्रकीर्णक–प्रजा ।

९. अभियोग्य–वह देव जो अपनेको सवारी रूप घोड़ा आदि बना देते हैं ।

१०. और किल्विषिक–सेवकदल ।[1]

धरणेन्द्र नागकुमार देवोंका इन्द्र था और शेष जो उनके सामानिक आदि थे वह ऊपर बतलाये हैं । इनके विषयमें और विशेष वर्णन श्री अर्थप्रकाशिकाजीमें भवनवासी देवोंके साथ निम्नप्रकार है:—

'भवननिमें बसें हैं तातैं इनकूं भवनवासी कहिये है । भवनवासीनिमें असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार ऐसे दश विशेष संज्ञा नाम कर्मकरि कीनी जानना, बहुरिकोऊ श्वेतांबरादिक कहैं जो देवनिकरि 'अस्यंति' कहिए युद्ध करैं प्रहार करैं ते असुर हैं ऐसैं कहैं सो नहीं । ए कहना तो देवोंकों अवर्णवाद है, इसमें मिथ्यात्वका बंध होय है । ते सौधर्मादिकनिके देव महा प्रभावान हैं । इनकै ऊपरि हीन देव मनकरिकैं हू प्रतिकूलपणा नहीं विचारे हैं । जो एता विशेष है । जो चमरेन्द्र अर वैरोचन ए इन्द्र अपनी ऐश्वर्य संपदा करि परिणाममैं ऐसा मद करैं हैं जो हमार सौधर्म ईशान इन्द्रसौं कौनसी संपदा घट है, हम भी उनके तुल्य ही हैं ऐसी परिणामनिमैं ईर्षा है सो अभिमानकी अधिकतातैं ऐसी ईर्षा करै ही हैं । बहुरि सौधर्मादिक देवनिकैं विशिष्ट शुभ कर्मका उदयकरि विभव है सो अरहंत पूजा तथा भोगानुभवन

१–तत्वार्थसूत्रम् अ० ४ सूत्र ४.

इत्यादिकमैं लीन हैं। इनकैं परकी दाराहरणादिक वैरका कारण ही नहीं तातैं असुर हैं। ते सुरनिकरि युद्ध नाहीं करैं हैं। बहुरि समस्त देवनिकै बालयौवनादिक अवस्था नहीं पलटै हैं। उपज्या जिस अवसरतैं मरण पर्यंत एकसी थिर अवस्था रहै हैं तातैं अवस्थाकरि कुमार नहीं हैं। इनिकै कुमार समान उद्धत वेष भूषा आभरण आयुध वस्त्र गमन वाहन राग क्रीड़न हैं तातैं कुमार कहिये है। अब इनका भवन कहां हैं सो कहै हैं। इस जम्बूद्वीपकी दक्षिण दिशामैं असंख्यात द्वीपसमुद्रनिकूं व्यतीत करि रत्नप्रभा पृथ्वीका पंकभाग विषैं असुर कुमारनिका चमर नाम इन्द्रके चौंतीस लाख भवन हैं अर चौसठि हजार सामानिक देव हैं। तेतीस त्रायंस्त्रिशत् देव हैं। बहुरि सोम, यम, वरुण, कुबेर ए चार लोकपाल हैं। तीन सभा हैं तिनमैं पहली सभामैं अठाईस हजार देव हैं। मध्यकी सभामें तीस हजार, बाह्य सभामैं बत्तीस हजार देव हैं। अर सात सेना हैं। महिषनिकी घोड़ेनिकी रथनिकी हाथीनिकी पयादनिकी गंधर्वनिकी नृत्यकारिणीनिकी। तिन एक एक सेनामें सात सात कक्षा हैं। पहली कक्षा चौसठि हजार देवनिकी दूजी यातैं दूणी, तीजी यातैं पूणी ऐसैं सप्त जायगा दूणी दूणीकी इक्यासी लाख अठाइस हजार प्रमाण महिषनिकी सेना भई इनिकूं सप्तकर गुणिए तदि पांच कोटी अडसठी लाख छिनवै हजार देवसातौ सेनाके भए। ऐसैं ही वैरोचनादिक इन्द्रकै सेनाका प्रमाण जानना। इनि सात प्रकारकी सेनामैं एक एक सेनाधिपति महत्तर देव हैं, नृत्यकारिणीकी सेनामैं महत्तरी देवी है। अर प्रकीर्णक देव नगर निवासी समान प्रीतिके पात्र असंख्यात हैं। बहुरि छप्पन हजार देवी हैं तिनमैं सोळह हजार वल्लभिका

अर पांच पट्ट देवी हैं। अर पट्टदेवी आठ हजार विक्रियां करैं हैं। ऐसैं ही वैरोचनादि इन्द्रनिकै समस्त दश भेदनिमैं भवन परिवारादिक त्रिलोकसारादि ग्रंथनितैं जानना। बहुरि रत्नप्रभा पृथ्वीके पंक भाग विषै असुर कुमारनिके भवन हैं अर नागकुमारादिक नवजातिके भवन खरभाग विषैं हैं। बहुरि कोई भवन जघन्य हैं ते तो संख्यात कोटी योजनके हैं। उत्कृष्ट भवन असंख्यात योजनके विस्ताररूप हैं चौकोर हैं। तीनसौं योजनकी ऊंचाई लिए हैं। भवनकी भूमिसूं छाती पर्यंत तीनसै योजनकी ऊंचाई है अर एक एक भवनके मध्यविषै एक योजन ऊंचा पर्वत है, तिस पर्वत ऊपरि जिनेन्द्र मंदिर हैं ऐसैं दश जातिके भवनवासीनिके सात कोटी बहत्तरी लाख भवन हैं। अर सात कोटी बहत्तरी लाख ही जिन चैत्यालय हैं। अष्ट गुणरूप ऋद्धिनिकरि सहित हैं। नाना मणिमय भूषणनिकरि जिनका दीप्ति संयुक्त अंग हैं। अर दश प्रकारके चैत्यवृक्ष जिन प्रतिमाकरि विराजित हैं। अपने तपके प्रभावकरि सुखरूप भोग भोगते तिष्ठै हैं। जिनके मल, मूत्र, रुधिर, चाम, हाड, मांस आदिककर वर्जित दिव्य देह है।....अन्य नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार इन तीनकैं आहारकी इच्छा साढा बारह दिन गए होय अर साढाबारा मुहूर्त गए उछ्वास होय। देहकी उंचाई....(नागकुमारादि) नव जातिकेनिकैं दश धनुष है।" (पृष्ठ १७७–१८०)

साथ ही श्री हरिवंशपुराणजीमें इनके सम्बन्धमें इस प्रकार वर्णन मिलता है:-

'नरककी पहली....रत्नप्रभा पृथ्वीके खरभाग, पंकभाग और बहुलभाग ये तीन भाग हैं,....पंकबहुलभागके दो भाग हैं, उनमें

प्रथम भागमें राक्षसोंके और दूसरेमें असुरकुमारोंके घर हैं और वे देदीप्यमान रत्नोंके बने हैं। खरभागमें अतिशय देदीप्यमान, स्वाभाविक प्रभाके धारक नागकुमार आदि नौ भवनवासियोंके अनेक घर हैं।...नागकुमारोंके चौरासीलाख भवन हैं।....मणि और सूर्यसमान देदीप्यमान पाताल लोकमें असुरकुमार नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार उदधिकुमार स्तनितकुमार विद्युतकुमार दिकुमार अग्निकुमार और वायुकुमार ये दश प्रकारके देव यथायोग्य अपने अपने स्थानोंपर रहते है। (पृ० ३२-३३)

इस तरह यहांतकके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि धरणेन्द्र और उसकी मुख्य पट्टरानी पद्मावती नागकुमार देवोंके इन्द्र-इन्द्राणी थे और वह पाताल लोकमें रहते थे। उनको नागवंशी राजा अथवा विद्याधर मनुष्य बतलाना कुछ ठीक नहीं जंचता, परन्तु यह बात विचारणीय है; इसलिये इसपर हम अगाड़ी प्रकाश डालेंगे। पाताललोक हमारी पृथ्वीके नीचे बतलाया गया है, परन्तु ऊपर जो राजवार्तिकजी व अर्थप्रकाशिकाजीके उद्धरण दिये गये हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि जम्बूद्वीपके असंख्यात द्वीपसमुद्रोंको उलंघ जानेपर दक्षिण दिशामें खरभाग पृथ्वी मिलती है जहां धरणेन्द्रके भवन हैं तथापि जम्बूद्वीप आदिकर संयुक्त मध्यलोक जैन शास्त्रोंमें थालीके समान सम माना है।[१] इस अपेक्षा तो धरणेन्द्रका निवासस्थान हमारी पृथ्वीके नीचे प्रमाणित नहीं होता। परन्तु शास्त्रोंमें सर्वत्र पाताललोक पृथ्वीके नीचे बतलाया गया है।[२] ऐसी अवस्थामें उपरोक्त शास्त्रोंके कथ-

१. चरचाशतक पृ० ११। २. हरिवंशपुराण पृ० ३२-३३।

नोंको मान्यता देते हुये मध्यलोककी पृथ्वीको ढलवां मानना पड़ेगा, जिससे दक्षिण दिशाकी ओर नीचे ढलते हुये खरपृथ्वी अधोलोकमें आसक्ती है। जम्बूद्वीपकी नदियां जो आमने सामने इधर उधर बहतीं बतलाई गई हैं, उससे भी यही अनुमान होता है कि यह पृथ्वी बीचमें उठी हुई और किनारोंकी ओरको ढलवां है; परन्तु शास्त्रोंमें इस विषयका कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया है। अतएव इस विषयमें कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सक्ती है। किन्तु इतना अवश्य है कि यह विषय विचारणीय है। जैन भौगोलिक मान्यताओंको स्वतंत्र रीतिसे अध्ययन करके प्रमाणित करनेकी आवश्यक्ता है। जैनशास्त्रोंमें जिस स्पष्टताके साथ भौगोलिक वर्णन दिया हुआ है; उसको देखते हुए उसमें शंका करनेको जी नहीं चाहता है, परन्तु जरूरत उसको सप्रमाण प्रकाशमें लानेकी है।

अस्तु, यह तो स्पष्ट ही है कि धरणेन्द्रका निवासस्थान पाताल अथवा नागलोक है। दि० जैन समाजमें उसकी मूर्ति पांच फण कर युक्त और चार हाथवाली बतलाई गई है। दो हाथोंमें उनके सर्प होते हैं, तथापि अन्य दो हाथ छातीसे लगे हुये रहते हैं, जिनमें एक खुला हुआ और एक मुट्ठी बंधा हुआ होता है। इनकी सवारी कछुवेकी बतलाई गई है।[1] इनकी अग्रमहिषी पद्मावती भी पांच फणवाले सर्पके छत्रसे युक्त चार हाथवाली मानी गई है। इनके दो हाथोंमें वज्रदंड और गदा होती है एवं अन्य दो हाथ उसी रूपमें होते हैं, जिस रूपमें धरणेन्द्रके बतलाये गए हैं।

१. डर जैनिसमस प्लेट नं० २७।

इनका आसन राजहंस बतलाया गया है।[1] किन्तु कहीं २ इनको तीन फणवाले छत्रसे मंडित कहा गया है, यथाः—

'फन तीन सुमनलीन तेरे शीस बिराजैं।
जिनराज तहाँ ध्यान धरें आप बिराजैं॥
फनिइंदने फनिकी करी जिनंदपै छाया।
उपसर्ग वर्ग मेटिके आनन्द बढ़ाया॥
जिनशासनी हंसासनी पद्मासनी माता।
भुज चारतैं फल चारुदे पद्मावती माता[2]॥'

यहां हंसनीके साथ इनका उल्लेख पद्मासनी रूपमें भी किया हुआ है। अन्यत्र भी यही कहा गया है और साथ ही इनको पद्मवनमें निवसित बतलाया है; यथा—

'पद्मे **पद्मासनस्थे** व्यपनयदुरितं देवि देवेन्द्र वंद्ये॥६॥'
'मातर्पद्मनि पद्मरागरुचिरे पद्मप्रसूतानने।
पद्मे **पद्मवन**स्थिते परिलसत्पद्माक्ष पद्मालये॥
पद्मामोदनि पद्मनाभिवरदे पद्मावती याहि मां।
पद्मोल्लासनि पद्मरागरुचिरे पद्मप्रसूनार्चिते[3]॥ २७॥'

---

१. पूर्व प्रमाण और करकंडुचरितमें भी पद्मावती देवीको पांच फणवाला बतलाया है; यथा—

"समच्चिविपूजिविज्झायइजाव। समागयदेवय पोमावयताम।
समंथरलालसकोमल आणि-कुणंतियकाविअउव्वियभाउ॥
विणिम्मियरूव समिद्धिखणेण-सरीर इं रत्तिय सुद्धमणेण।
करेहिं चउंहि करंतिगुल-सयोछ्यभिंग समुद्द मुणालु॥
सकुंडलकण्णफुरंतकवोल-सण्णडरकिंकिणि मेहलरोल।
फणीफण पंचसिरेणधरंति-पसणियणिम्मल कविकरंति॥"
—संधि ७.

२. वृन्दावन विलास पृ० २१। ३. जैन गुटका नं० ४४ आरा-बृहद् पद्मावतीस्तोत्र-पृ० २७-२८।

जनसाधारणमें भी शायद इसी अपेक्षा पद्म (कमल) पुष्पोंसे पूर्ण नदी और सरोवरोंको 'पद्मावती' और 'पद्मवन' नामसे परिचित करनेकी मर्यादा प्रचलित है।[1] मिश्रदेश, जहां कि भारतीयताका प्राचीन संबंध रहा है जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे, वहांकी नील (Nile) नदीको लोग इसी अपेक्षा 'पद्मावती' भी कहते हैं और उसीकी दल दलमें एक 'पद्मवन' भी है।[2] तथापि 'पद्म' देवीकी भी वहां मान्यता है।[3] धर्मका प्रकाश करनेके लिये-जिनशासनकी विजय वैजयंती फैलानेके लिये पद्मावतीदेवी बहु प्रसिद्ध हैं। एक आचार्यके निम्न शब्द[4] इसके साक्षी हैं:—

संसाराब्धौनिमग्नां प्रगुणगुणयुतां जीवराशिं च याहि ।
श्रीमज्जैनेन्द्रं धर्म्मं प्रकट्यविमलं देवि पद्मावती त्वं ॥ २३ ॥
तारामानविमर्द्दनी भगवती देवी च पद्मावती ।
ताता सर्वगता त्वमेव नियतं मायेति तुभ्यं नमः ॥ २५ ॥

सचमुच पद्मावतीदेवी धर्मानुरागकी उमंगसे भरी हुई हैं। जिसने भी जब जिनधर्मकी प्रभावना करनेके भाव प्रगट किये वहां यह देवी उसकी सहायक हुई हैं! आचार्यवर्य श्री अकलंकदेवजी जिस समय राजा हिमशीतलके दरबारमें दक्षिण भारतके कांचीपुर (कन्जीवरम्) नामक नगरमें तारादेवीके आश्रित बौद्धगुरुसे बाद करते २ विलख उठे थे, उस समय इन्हीं देवीने प्रगट होकर उनकी सहायता की थी।[5] ऐसे ही पात्रकेशरी आचार्यको भी यही देवी सहायक हुई थीं।[6] एक जैन कवि इनके दिव्यरूपकी

१. ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५९। २. पूर्व पुस्तक पृ० ६४। ३. पूर्व पुस्तक पृ० ५९। ४. बृ० पद्मावतीस्तोत्र पृ० ३१। ५. अकलंक चरित्र देखो। ६. आराधना कथाकोष भाग १ पृ० ५।

प्रशंसा निम्न पद्योंमें[1] करते हैं:—

"धर्मानुराग रंगसे उमंग भरी हो, संध्या समान लाल रंग अंग धरी हो।
जिनसंत शीलवंत पै तुरंत खड़ी हो, मनभावती दरसावती आनंद बड़ी हो॥५॥
चरणारबिंदमें हैं नूपुरादि आभरण, कटिमें है सार मेखला प्रमोदकी करन।
उरमें है सुमनमाल सुमनमालकी माला, पटरंग अंग संगसों सोहे है विशाला॥११
करकंजचारुभूषनसों भूरि भरा है, भवि-वृंदको आनन्दकंद पूरि करा है।
जुग भान कान कुंडलसों जोति धरा है, शिरशीसफूल फूलसों अतूल धरा है॥१२
मुखचंदको अमंद देख चंद हू थंभा, छबि हेर हार होरहा रंभाको अचंभा।
दृग तीन सहित लाल तिलक भाल धरै है, विकसित मुखारविंद सौं आनंद भरै है॥"

श्वेतांबर जैनोंके शास्त्रोंमें भी धरणेंद्र और पद्मावतीको भगवान् पार्श्वनाथके शासन देवता स्वीकार किया गया है।[2] यद्यपि कहीं२ धरणेन्द्रका नाम वहां 'पार्श्व' लिखा मिलता है।[3] परन्तु श्रीभावदेव-सूरिने धरणेन्द्र और पार्श्व शब्दोंको समान रूपमें व्यवहृत किया है।[4]

१-वृन्दावनविलास पृ० २२-२३।

श्री बृहत्पद्मावतीस्तोत्रमें इसका उल्लेख इन श्लोकोंमें है:—

विस्तीर्णे पद्मपीठे कमलदलश्रिते चित्तकामांगगुप्ते।
लांतांगीं श्रीसमेते प्रहसितवदने नित्यहस्ते प्रशस्ते॥
रक्ते रक्तोत्पलांगी प्रविबहसि सदा वाग्भवेकामराजे।
हंसारूढे त्रिनेत्रे भगवति वरदे रक्ष मां देवि पद्मे॥ १०॥
जिह्वाग्रे नाशिकांते हृदि मनशि दशा कर्णयोर्नाभिपद्म।
स्कंधे कंठे ललाटे शिरसि च भुजयो वृष्ट पार्श्वप्रदेशे॥
सर्वांगोपांग सुव्यापयतिशय भुवनं दिव्यरूपं सुरूपं।
ध्यायंति सर्वकालं प्रणवलयुतं पार्श्वनाथेति शब्दे॥ १२॥

२-लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ, फुटनोट-पृ० ११८ और पृ० १६७ और हार्टऑफ जैनिज्म पृ० ३१३। ३-भावदेवसूरिकृत श्रीपार्श्वचरित सर्ग ७ श्लो० ८२७...और हेमचन्द्राचार्यका अभिधान चिन्तामणि ४३। ४-श्रीपार्श्वचरित सर्ग ६ श्लोक १९०-१९४ यहां धरणेन्द्रका ही नाम लिखा है।

इसीलिये यह कहना होगा कि अन्ततः श्वेताम्बरोंके अनुसार भी धरणेन्द्र ही पार्श्वस्वामीके शासन देवता थे। प्रत्येक जैन तीर्थंकरके शासन रक्षक एक देव और देवी बतलाये गये हैं। उसहीके अनुसार श्रीपार्श्वनाथजीके शासन रक्षक धरणेन्द्र और पद्मावती थे। श्रीभाव-देवसूरिने धरणेन्द्र–पार्श्वका रूप इस तरह चित्रित किया है। उसे एक कृष्णवर्णका चार भुजाओंवाला यक्ष बतलाया है। मूलनाम 'पार्श्व' लिखा है। तथा कहा है कि वह सर्पका छत्र लगाये रहता था। उसका मुंह हाथी जैसा था, उसके वाहन कछुवेका था, उसके हाथोंमें सर्प थे और वह भगवान पार्श्वका भक्त बन गया था।[1] दिगम्बर जैन-शास्त्रोंमें उसका मुख सुडौल और सुन्दर मनुष्यों जैसा बतलाया है। उसके साथ ही उन श्वेतांबराचार्यने पद्मावतीदेवीको स्वर्णवर्णकी, विशेष शक्तिशाली, कर्कुट सर्पके आसनवाली बतलाया है। उसे सीधे दो हाथोंमें क्रमशः कमल और दंड एवं अन्य दो हाथोंमें एक फल और गदा लिये कहा गया है।[2] यहां भी दिगम्बर मान्यतासे जो अन्तर है वह प्रगट है; परन्तु मूलमें दोनों ही उसको यक्ष–यक्षिनी और चार हाथवाले जिन शासनके रक्षक स्वीकार करते हैं। जिस समय भगवान पार्श्वनाथजीपर कमठके जीवने उपसर्ग किया था, जैसे कि अगाड़ी लिखा जायगा, उस समय धरणेन्द्र पद्मावतीने आकर उनकी सहायता की थी। इसीलिये वे जैन शासन रक्षकदेव माने गये हैं। श्रीआचार्य वादिराजसूरि यही लिखते हैं:—

'पद्मावती जिनमतस्थिति मुन्नयतीतेनैवतत्सदसि शासनदेवतासीत् ।
तस्याः पतिस्तु गुणसंग्रह दक्षचेता यक्षो बभूव जिनशासनरक्षणज्ञः ॥४२॥'

१–पूर्व पुस्तक सर्ग ७ श्लो० ८२७...। २–पूर्व पुस्तक सर्ग ७ श्लो० ८२८ ;

अर्थात्—'देवी पद्मावती जिनमतकी उन्नतिकी करनेवाली थी इसलिए वह शासनदेवता कही जाने लगी और गुणोंकी परीक्षामें चतुर जिनशासनकी रक्षाका भलेप्रकार जानकार धरणेन्द्र यक्ष कहा गया।'[१]

धरणेन्द्र और पद्मावती इस तरह यक्ष-यक्षिणी प्रमाणित होते हैं। दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके शास्त्र इस बातपर एकमत हैं किन्तु इस हालतमें यह विरोध आकर अगाड़ी उपस्थित होता है कि यक्ष व्यन्तर जातिके देवोंका एक भेद है और धरणेन्द्र पद्मावतीको शास्त्रोंमें नागकुमारोंका इन्द्र-इन्द्राणी बतलाया है, जो भवनवासी देवोंमेंसे एक हैं। फिर श्वेताम्बर शास्त्रकारोंने जो धरणेन्द्रको पातालका राजा और श्रीपार्श्वनाथजीका शासनदेवता पार्श्व यक्ष बतलाया है उसका भी कुछ कारण होना चाहिये। यद्यपि अन्ततः वहां भी धरणेन्द्र और पार्श्व यक्ष समानरूपमें व्यवहृत हुये मिलते हैं। इन बातोंको देखते हुए क्या यह संभव नहीं है कि नागवंशी राजाओंका विशेष सम्पर्क भगवान पार्श्वनाथजीसे रहा हो? नागवंशी राजा और नागकुमारोंके अधिपति धरणेन्द्रको एक ही मानकर किसी तरह उक्त प्रकार भ्रमात्मक उल्लेख होगया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि पुरातनकालमें इतिहासकी ओर आचार्योंका बहुत कम ध्यान था। तिसपर यह प्रगट ही है कि भगवान पार्श्वनाथसे पहले भारतपर नागवंशी राजाओंने

१–श्रीपार्श्वनाथ चरित्र (कलकत्ता) पृ० ४१५ श्री बृहद् पद्मावती स्तोत्रमें भी यही लिखा हैं यथाः—

'पातालाधिपति प्रिया प्रणयनी चिंतामणि प्राणिनां।
श्री मत्पार्श्व जिनेश शासनसुरी पद्मावती देवता॥ २२॥

आक्रमण किया था और वे यहां विविध स्थानोंपर बसने भी लगे थे।[१] श्री पद्मपुराणजीमें सीताजीके स्वयम्वरमें आये हुये राजाओंमें नागवंशी राजाका भी उल्लेख किया गया है।[२] साथ ही श्री नागकुमार चरितमें भी इसी बातका उल्लेख है।[३] वहां नागवापीमें जो नागकुमारका गिरना और नागोंकी उनकी रक्षा करना बतलाया है उसका भाव नागवंशियोंकी पल्लीमें कुमारका बेधड़क चला जाना और नागवंशियोंका विदेशसे आया हुआ बतलाना ही इष्ट है। जैन पद्मपुराणसे यह प्रगट ही है कि नागकुमार नामके विद्याधर लोग भी यहां मौजूद थे। फिर भारतीय कथाग्रन्थोंमें इन नागवंशी राजाओंका उल्लेख जहां किया गया है वहां उनको पशुनाग ख्याल करके उनका स्थान जल या वापी बतलाया गया है।[४] इसका मतलब यही है कि वह विदेशसे आई हुई विजातीय संप्रदाय थी और समुद्रपार बसती थी। उस कालमें उनने भारतके विविध स्थानोंमें अपने अड्डे जमा लिये थे; यहां तककि वे मगध और हिमालयकी तराई तकमें पहुंच गए थे। नागकुमार जिस नागवापीमें गिरे थे वह मगधमें ही थी[५] तथापि नेपालके पुरातन इतिहासमें इस बातका पूरा उल्लेख है कि वहां कई वार नाग लोग आकर बस गये थे।[६] हिमालयको वे लोग नागह्रद कहते हैं।[७] वहां नागेन्द्रका वास बतलाते हैं।[८] जैन शास्त्रोंमें भी चक्रवर्ती सगरके सौ पुत्रोंका कैलाश पर्वतपर पहुंचकर खाई खोदनेपर नागेन्द्रद्वारा मारे जानेका उल्लेख

१–राजपूतानेका इतिहास भाग १ पृ० २३० । २–पद्मपुराण पृ० ४०२। ३–नागकुमार चरित पृ० १७ । ४–इन्डियन हिस्ट्री क्वा० भाग ३ पृ० ५२१। ५–नागकुमार चरित पृ० १७ । ६–दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० ७०–१७४। ७–पूर्व पुस्तक पृ० ७७। ८–श्री हरिवंशपुराण पृ० १६९।

मिलता है।[1] जिससे भी वहां नागेन्द्रका वास प्रमाणित होता है! परन्तु क्या यह नागेन्द्र नागकुमारोंके इन्द्र धरणेन्द्र ही थे, यह मानना जरा कठिन है, क्योंकि धरणेन्द्र जिनशासनका परमभक्त बतलाया गया है। अतएव जब सम्राट् सगरके पुत्र श्री कैलाशपरके भरतराजाके बनवाये हुये चैत्यालयोंकी रक्षाके निमित्त खाई खोद रहे थे तो फिर भला एक शासनभक्त देव किस तरह उनपर कोप कर सक्ता था? और यहांतककि उनके प्राणों—सम्यग्दृष्ठियोंके प्राणों तकको अपहरण कर लेता! फिर उनका उल्लेख वहां केवल नागेन्द्र अथवा नागराजके रूपमें है जिससे धरणेन्द्रका ही भाव लगाना जरा कठिन है। इस तरह यह बिल्कुल संभव है कि वह नागराज नागवंशी विद्याधरोंका राजा हो; जैसे कि उसे नेपालके इतिहासमें भी बतलाया गया है। नेपालके इतिहासमें भी नागोंका सम्बन्ध बहुत ही प्राचीनकाल अर्थात् हिन्दुओंके त्रेता और सतयुगसे बतलाया है। त्रेतायुगमें एक 'सत्व' बुद्धका आगमन वहांपर हुआ था। उसने नागहृदको सुखा दिया, जिससे लाखों नाग निकलकर भागे। आखिर सत्वने उनके राजा करकोटक नागको रहनेको कहा और उनके रहनेको एक बड़ा तालाव बतला दिया एवं उनको धनेन्द्र बना दिया। नेपालकी इस कथाका भाव यही है कि वहांपर नागराजाओंका प्राबल्य था, जिनको सत्व नामक व्यक्तिने परास्त कर दिया। बहुतेरे नाग तो अपने देशको भाग गये; परन्तु प्राचीन क्षत्रियोंकी भांति सत्वने उनके राजाको वहां रहने दिया और उसे अर्थ-सचिव बना दिया। करकोटक नाग कैस्पियन समुद्रके किनारे

१—दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० ७९।

बसनेवाली एक जाति थी, यह प्रमाणित हो गया है।[१] कैस्पियन समुद्रके निकट बसनेवाली जातियोंका पूर्ण उल्लेख हम अगाड़ी करेंगे। यहांपर इस कथासे भी यह स्पष्ट है कि जिन नागोंको पानीमें रहनेवाला बतलाया गया है वे दरअसल मनुष्य थे। जैन शास्त्रोंमें तो उनको ऐसा ही बताया है जैसे कि पद्मपुराणजीके उपरोक्त उल्लेखसे प्रकट है।

नेपालके इतिहासकी एक अन्य कथासे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह नागलोग वास्तवमें मनुष्य ही थे। इस कथामें कहा गया है कि नेपालके राजा हरिसिंहदेवका एक वैद्य एक दिन तालाबके किनारे स्नान कर रहा था कि इतनेमें ब्राह्मणका रूप धरकर नागोंके राजा करकोटक वहां आये और उन वैद्य महाशयसे साथ चलनेकी प्रार्थना करने लगे। कहने लगे कि 'वैद्यराज, हमारी स्त्रीकी आंखें दुख रहीं हैं; आप चलकर देख लीजिये।' वैद्य महाशय ज्यों त्यों कर राजी हुये। वह दोनों दाक्षिण पश्चिमकी ओर एक तालाबके किनारे आये। नागराजने वहांपर ब्राह्मणकी आंखें बंद करके जो डुबकी लगाई तो दोनोंके दोनों पातालपुरी नागराजके दरबारमें हाजिर हुये। नागराज बड़ी शानसे आसनपर बैठे हुए थे, चमर ढोले जारहे थे। उनने अपनी नागरानीको वैद्यराजको दिखाया। वैद्य महाशयने उसकी आंखोंका इलाज किया और वह अच्छी हो गई। नागराजने प्रसन्न होकर वैद्य महाशयको भेंट दी और उन्हें सादर विदा किया।[२] इस अपेक्षा यह स्पष्ट है

१-दी इन्डियन हिस्टॉरकली क्वार्टरली भाग १ पृ० ४५८। २-दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० १७८।

कि यह नागलोग मनुष्य ही थे ।

नागवंशी राजाओंका इतिहास अभी प्रायः अंधकारमें है; परन्तु उसपर अब प्रकाश पड़ने लगा है । अबतकके प्रकाशसे यह ज्ञात होता है कि इनका अस्तित्व महाभारत युद्धके पहलेसे यहां था । जैन पद्मपुराणके पूर्वोलिखित उद्धरणसे भी यही प्रकट है । सचमुच महाभारतके समय अनेक नागवंशी राजा यहां विद्यमान थे । तक्षक नागद्वारा परीक्षितका काटा जाना और जन्मेजयका सर्पसत्रमें हजारों नागोंके होमनेके हिन्दूरूपक इसी बातके द्योतक हैं कि नागवंशी तक्षकके हाथसे परीक्षित मारा गया था और उसके पुत्र जन्मेजयने अपने पिताका वैर चुकानेके लिए हजारों नागोंको मार डाला । तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, मणिनाग आदि इस वंशके प्रसिद्ध राजा थे । विष्णुपुराणमें ९ नागवंशी राजाओंका पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्यमें), कांतिपुरी और मथुरामें राज्य करना लिखा है । वायु और ब्रह्मांडपुराण नागवंशी नव राजाओंका चंपापुरीमें और सातका मथुरामें होना बतलाते हैं । क्षत्री और ब्राह्मण लोगोंने इनके साथ विवाह संबंध भी किए थे । इनकी कई शाखायें थीं; जिनमें की एक टांक या टाक शाखाओंका राज्य वि० सं० की १४ वीं और १९ वीं शताब्दितक यमुनाके तटपर काष्ठा या काठा नगरमें था । मध्यप्रदेशके चक्रकोत्यमें वि० सं० की ११ वीं से १४ वीं और कवर्धामें १० वीं से १४ वीं शताब्दि-तक नागवंशियोंका अधिकार रहा था । इनकी सिंह शाखाका राज्य दक्षिणमें रहा था । निजामके येलबुर्ग स्थानमें इनका राज्य १०वींसे १३वीं शताब्दितक विद्यमान था । राजपूतानेमें भी नागलोगोंका

अधिकार रहा था।[1] उद्यान प्रान्त (पंजाब) में भी नागवंशियोंका राज्य था। वहां एक अपलाल नामक नागराजाका अस्तित्व बतलाया गया है।[2] काश्मीरके राना दुर्लभ (सन् ६२९–६६१) भी नागवंशी थे।[3] अहिच्छत्र (बरेली) में भी बुद्धके समय नागराजाओंका राज्य था।[4] उसी समय बौद्ध गयामें भी एक नागराजाका अस्तित्व बतलाया गया है।[5] रामगाम (मध्यप्रांत)में भी इन राजाओंका राज्य होना एक समय प्रकट होता है।[6] फाहियान और ह्युनत्सांग, इन दोनों ही चीनी यात्रियोंने यहांपर नागराजाओंका होना लिखा है, जो बुद्धके स्तूपकी रक्षा करते थे। ह्युनत्सांग लिखता है कि वे दिनमें मनुष्यरूपमें दिखाई पड़ते थे।[7] इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि उस समय भी लोगोंमें इनके वस्तुतः नाग होनेका भ्रम घुसा हुआ था, यद्यपि वस्तुतः यह नागलोग मनुष्य ही थे, जैसे कि ह्युनत्सांगके उक्त उल्लेख और जैन शास्त्रोंके कथनसे प्रकट है। लंकाके बौद्धोंका विश्वास है कि गगाके मुहाने और लंकाके मध्यके एक देशमें नागलोगोंका राज्य था।[8] दक्षिण भारतके मजेरिका स्थानमें भी नागोंका निवास था।[9] तामिलके प्राचीन शास्त्रकारोंने तामिलके निवासियोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है और उनमें नागलोग भी हैं। पल्लववंशके प्राचीन राजाओंका विवाह सम्बन्ध नागकुमारियोंसे हुआ था। प्राचीन चोलराजाओंका भी इनसे संबंध था। तामिलदेशका एक भाग नागवंशकी अपेक्षा नागनादु कहलाता

१–राजपूतानेका इतिहास प्रथम भाग पृ० २३०–२३२। २–कनिन्घम, ऐनशियेन्ट ऑफ इन्डिया पृ० ९५। ३–पूर्व पुस्तक पृ० १०७। ४–पूर्व पुस्तक पृ० ४१२। ५–पूर्व० पृ० ४१४। ६–पूर्व० ४८३। ७–पूर्व० पृ० ४८४। ८–पूर्व० पृ० ६११। ९–पूर्व० पृ० ६१५।

था। सचमुच दक्षिणमें और नागपुरके आसपास नागवंशके अधिपति अनेक थे। उनके विवाह संबंध शतवाहनोंसे भी हुये थे। (इन्डि० हिस्ट्री० क्वा० भाग ३ पृ० ९१८-९२०) मध्यप्रान्तके भोगवती आदिके नागराजाओंकी पताकामें सर्पका चिन्ह था। (इपी० इन्डिका १०।२९) लंकाके उत्तर-पश्चिम भागमें भी नागोंका वास था। इसी कारण लंकाका नाम 'नागद्वीप' भी पड़ा था। यहांपर ईसासे पूर्व ६ठी शताब्दिसे ईसाकी तीसरी शताब्दि तक नागवंशका राज्य रहा था; किंतु लोगोंकी धारणा है कि ईसासे पूर्व ६ठी शताब्दिके भी पहलेसे वहां नागोंका राज्य था। (Ancient Jaffna pp. 33-44) म० बुद्ध जिससमय लंका गये थे, उस समय उनको वहां एक नागराजा ही मिले थे। तामिलके प्रसिद्ध काव्य 'शीलप्पतिथकारम्' में दक्षिणके नागराजाओंकी राजधानी कावेरीपट्टन बतलाई गई है।[1] जैन कथाग्रन्थोंमें भी इस कावेरीपट्टनका बहुत उल्लेख हुआ है। इसतरह ऐतिहासिक रूपमें नागलोगोंका अस्तित्व प्रायः समग्र भारतवर्षमें ही मिलता है।

जैनधर्मसे नागवंशका घनिष्ट सम्बन्ध प्रारम्भसे ही प्रमाणित होता है। भगवान पार्श्वनाथकी इनमें विशेष मान्यता थी, यह हमारे उपरोक्त कथनसे सिद्ध है। यदि स्वयं भगवान पार्श्वनाथजीका सम्पर्क इस कुलसे रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि शास्त्रोंमें इन भगवानको उग्रवंशी और काश्यपगोत्री लिखा है। उधर नागलोकको विविध वंशोंमें एक 'उरगस' नामक मिलता है; जो उग्रका प्राकृत रूप होसक्ता है। हिन्दीमें उग्रका प्रयोग 'उरग' रूपमें

१-इन्डियन हिस्ट्री० क्वा० भाग ३ पृ० ५२७.

हुआ मिलता भी है और यह नागलोकवासी अपने आदि पुरुष 'काश्यप' बतलाते ही हैं। इस अपेक्षा यदि श्रीपार्श्वनाथजीके कुलका सम्बन्ध इन नागलोकोंसे होना संभव है परंतु इसके साथ ही जैन शास्त्रोंमें इन्हें स्पष्टतः इक्ष्वाकुवंशी लिखा है, यह भी हमें भूल न जाना चाहिये। अतः इतना तो स्पष्ट ही है कि नागवंशका सम्बन्ध अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथजीसे किसी न किसी रूपमें था। तथापि मथुराके कंकाली टीलेसे जो एक प्राचीन जैन कीर्तियां मिली हैं, उनमें कुशानसंवत ९९ (ईसाकी दूसरी शताब्दि) का एक आयागपट मिला है। इस आयागपटमें एक स्तूप भी अंकित है जिसमें कई तीर्थंकरोंके साथ एक पार्श्वनाथस्वामी भी हैं। इनसे नीचेकी ओर चार स्त्रियां खड़ी हैं, जिनमें एक नागकन्या है; क्योंकि उसके सिरपर नागफण है। कदाचित् यह उपदेश सुनने आई हुई दिखाई गई हैं।[१] इससे भी नागलोगोंका मनुष्य और उनका जैनधर्मका भक्त होना स्पष्ट प्रकट है। सिंधप्रान्तके हरप्पा और मोहिनजोडेरो नामक प्राचीन स्थानोंमें जो खुदाई हालमें हुई है, उसमें चार-पांच हजार वर्ष ईसासे पूर्वकी चीजें मिलीं हैं। इनमेंके स्तूप आदिका सम्बन्ध अवश्य ही जैन धर्मसे प्रकट होता है। इन्हींमें एक मुद्रा भी है, जिसपर एक पद्मासन मूर्तिकी उपासना नाग छत्रको धारण किये हुए दो नागलोग कर रहे हैं। (देखो प्रस्तावना) इस मुद्रासे नागवंशका जैनधर्म प्रेम भगवान पार्श्वनाथके बहुत पहलेसे प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त जिस समय श्री कृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्नकुमार विद्याधर-

१-दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज ऑफ मथुरा प्लेट नं. १२।

पुत्रोंसे सताये जाकर बाहर निकले थे तो वहीं निकटके एक सहस्रवक्र नागने उनका सन्मान किया था तथापि वहीं अर्जुन वृक्षपरके पांच फणवाले नागपतिने उनको पांच बाण आदि देकर सम्मानित किया था।[1] इस तरह यह नाग भी विद्याधरोंके देशके थे और जिनेन्द्रभक्त प्रद्युम्नका जो इन्होंने मान किया था, उससे उनकी जैनधर्मसे सहानुभूति प्रकट होती है। 'गरुड़ पंचमीव्रत कथा'में भी नागलोगोंका संबन्ध वर्णित है। उसमें मालव देशके चिंच नामक ग्रामके नागगौड़की स्त्री कमलावतीके पूछनेपर एक मुनिराजने वहांकी नागबांवीमें श्री नेमिनाथ और पार्श्वनाथ स्वामीकी प्रतिमायें बतलाई थीं।[2] यद्यपि यहां नागबांवी एक सर्पकी बांबी बतलाई गई है; परन्तु पूर्व कथाकारोंके वर्णनक्रमको ध्यानमें रखते हुए इसका अर्थ नाग लोगोंका निवास कहा जासक्ता है। अस्तु; इस कथासे भी नागलोगोंका जिनधर्मी होना और भगवान नेमिनाथ व पार्श्वनाथजीसे उनका विशेष संपर्क होना प्रकट होता है। श्री मल्लषेणाचार्यके 'नागकुमार चरित'में भी नागलोगोंका सम्यक्त्वी नागकुमारकी रक्षा करनेका उल्लेख है, यह हम पहले देख चुके हैं।[3] आधुनिक विद्वान् भी इनको नागवंशी स्वीकार करते हैं। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि और सब राजाओंने तो नागकुमारके साथ अपनी राजकुमारियोंका विवाह कर दिया था, किंतु पल्लववंशी राजाओंने नहीं किया था। उनके ऐसा न करनेका कारण यही कहा था कि स्वयं उनका विवाह नागकुमारियोंसे हुआ था। अतः

१-उत्तरपुराण पृष्ठ ५४७-५४८। २-जैनव्रतकथासंग्रह पृष्ठ १४२-१४४। ३-नागकुमारचरित पृष्ठ १७

नागकुमारका नागवंशी होना प्रकट है। हिन्दुओंके विष्णुपुराणमें नौ नागराजाओंमें भी एकका नाम नागकुमार है (I. H. Q. II. 189.) 'द्वादशीव्रत कथा'से भी यही बात प्रमाणित है। वहां कहा गया है कि मालवा देशके पद्मावतीनगरका राजा नरब्रह्मा था, जिसकी विजयावती रानीसे शीलावती नामक कुबड़ी कन्या थी। श्रमणोतम मुनिराजसे पूर्वभव सुनकर उसने द्वादशीव्रत किया था। उसके दो पुत्र अर्ककेतु और चन्द्रकेतु थे। अर्ककेतु प्रख्यात् राजा बतलाया गया है, अन्तमें इन सबके दीक्षा लेनेका जिकर है।[१] इस कथाके व्यक्ति नागलोग ही मालूम होते हैं, क्योंकि पद्मावतीनगर नागराजाओंकी राजधानी था।[२] यहां गणपतिनागके सिक्के मिले हैं।[३] साथ ही कतिपय 'वर्मातनामवाले' राजाओंके तीन शिलालेख ग्वालियर रियासतसे मिले हैं।[४] इन राजाओंमें एक राजा नरवर्मा नामक भी है, यह सिंहवर्माका पुत्र है, परन्तु अभीतक इनके वंशादिके विषयमें कुछ पता नहीं चला है। उपरोक्त कथाके राजा नरब्रह्मा और इन नरवर्माके नाममें बिल्कुल सादृश्यता है तथापि इनकी राजधानी जो पद्मावती बताई है, वह भी ग्वालियर रियासतमें है। इसलिये इनका एक व्यक्ति होना बहुतकरके ठीक है। किन्तु इनके नागवंशी होनेके लिए सिवाय इसके और प्रमाण नहीं है कि इनकी राज्यधानी पद्मावतीमें उस समय नागराजाओंका ही राज्य था और इतिहाससे इनके वंशादिका पता चलता नहीं, इस

१–जैनव्रतकथासंग्रह पृष्ठ १४८–१५१। २–राजपूतानेका इतिहास प्रथम भाग फुटनोट पृष्ठ ११७ और पृ० २३०। ३–मध्यभारत, मध्यप्रांतके प्राचीन जैन स्मारक पृ० ६९। ४–राजपूतानेका इतिहास पृ० १२५–१२६।

लिये इन्हें नागवंशी कहना अनुचित न होगा। नागवंशी राजाओंने जो अपनी राजधानीका नाम पद्मावती रक्खा था, वह भगवान पार्श्वनाथजीकी शासनदेवी पद्मावतीकी स्मृति दिलानेवाला प्रगट होता है। यह भी नागवंशियोंके जैन धर्मप्रेमी होनेमें एक संकेत कहा जासक्ता है। भोगवतीके नागराजाओंकी ध्वजाका सर्प चिन्ह भी इसीका द्योतक है; क्योंकि भगवान पार्श्वनाथका लक्षण सर्प था। साथ ही वीशनगर (जैन शिलालेखोंका भद्दिलनगर) से भी नाग राजाओंके सिक्के मिले हैं।[१] और यह स्थान भगवान शीतलनाथजीका जन्मस्थान था। यहां भी नागराजाओंका संबंध एक पूज्य जैन स्थानसे प्रकट होता है। साथ ही अहिच्छत्रके राजा वसुपाल जैन धर्मानुयायी थे यह बात आराधनाकथाकोषकी एक कथासे प्रमाणित है।[२] और अहिच्छत्रमें नागराजाओंका भी राज्य था; संभव है, राजा वसुपाल भी नागवंशी राजा हों! किन्तु शिमोगा तालुकाके कल्लूरगुड्ड ग्रामसे प्राप्त सन् ११२२ के शिलालेखमें गंगवंशकी उत्पत्तिका जिकर करते हुये, उसी वंशके एक श्रीदत्त नामक राजाको अहिच्छत्र पर राज्य करते लिखा है तथा यह भी उल्लेख है कि जब श्री पार्श्वनाथजीको केवलज्ञान हुआ, तब इस राजाने उनकी पूजा की थी; जिससे इन्द्रने प्रसन्न हो पांच आभूषण श्रीदत्तको दिए थे और अहिच्छत्रका नाम विजयपुर भी प्रसिद्ध हुआ था। (देखो मद्रास व मैसूर जैन स्मार्क पृ० २९७) अतः उपरोक्त कथाके राजा वसुपाल उपरान्तके—संभवतः श्री महावीर स्वामीके समयमें हुए प्रकट होते हैं, क्योंकि भगवान पार्श्वनाथजीसे

१—म० भा०के प्रा० जैनस्मारक पृ० ६२। २—भाग २ पृ० १०५।

उनका कोई प्रकट सम्पर्क विदित नहीं होता। किंतु उपरोक्त श्रीदत्त शिलालेखमें स्पष्टतः इक्ष्वाकूवंशी लिखे गये हैं संभव है कि अपने प्राचीन सम्बन्धको प्रकट करनेके लिए ऐसा लिखा हो; क्योंकि यह तो हमें माल्रम ही है कि मूलमें नागवंशका निकास इक्ष्वाकूवंश और काश्यपगोत्रसे ही है। अस्तु; उपरान्त करकंडु महाराजके चरित्रमें दक्षिण भारतकी एक वापीमेंसे भगवान पार्श्वनाथकी प्रतिबिम्ब एक नागकुमारकी सहायतासे मिलनेका उल्लेख है।[१] दक्षिणभारतमें नागराजाओंका राज्य था और खासकर उस देशमें जो गंगाके मुहाने और लंकाके बीचमें था यह प्रकट है।[२] इसी देशमें दंतिपुर अथवा दंतपुरको अवस्थित बतलाया गया है।[३] और उपरोक्त वापी इसी दंतपुरके निकटमें थी। अतएव इस कथामें जिस नागकुमारका उल्लेख है वह देव न होकर मनुष्य ही होगा। इससे भी वहांके नागवंशियोंका जैनधर्मप्रेमी होना प्रकट है। 'नागदत्त मुनिकी कथा'से भी नागवंशियोंका सम्बंध प्रगट होता है। वहां नागदत्तको उज्जयिनीके राजा नागधर्मकी प्रिया नागदत्ताका पुत्र लिखा है और कहा गया है कि वह सर्पोके साथ क्रीड़ा करनेमें बड़ा सिद्ध हस्त था। उनके पूर्वभवके एक मित्रने गारुड़का भेष रखकर उन्हें संबोधा था और वे मुनि होगये थे।[४] यहां राजा, रानी और उनके पुत्रके नाम प्रायः नाग—वाची हैं और जैसे कि हम एक पूर्व परिच्छेदमें देख आये हैं कि प्राचीनकालमें नामोल्लेखके नियमोंमें एक नियम कुल व वंश अपेक्षा प्रख्याति पानेका भी था। उसी अनुसार नागवंशी

१—आ० कथा० भाग ३ पृ० २८०। २—कनिंधम ए०जा० इन्डिया पृ० ६११। ३—पूर्व० पृ० ५९३। ४—आराधनाकथाकोष भाग १ पृ० १४८।

होनेके कारण राजा नागधर्मके नामसे प्रगट होगा और उसकी रानी भी अपने पितृपक्षकी अपेक्षा नागदत्ता तथैव पुत्र अपनी माताके अनुरूप नागदत्तके नामसे प्रख्यात् होना चाहिये। इसप्रकारके नामोल्लेखके कई ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं। राजा श्रेणिककी रानी चेलनी अपने पितृपक्षकी अपेक्षा 'वैदेही' अथवा 'विदेहदत्ता' रूपमें और उनका पुत्र कुणिक अजातशत्रु अपनी माताके कारण 'विदेहपुत्र' के नामसे प्रगट हुये थे।[1] आराधना कथाकोषकी एक अन्य कथामें पाटिलपुत्रके एक जिनदत्त नामक सेठकी स्त्रीका नाम जिनदासी और उसके पुत्रका नाम जिनदास मिलता है।[2] यहां भी उक्त प्रकार नामोल्लेख होना स्पष्ट है। उज्जैनके आसपास दशपुर और पद्मावतीमें नागवंशियोंका राज्य था यह प्रकट ही है। अस्तु, उक्त कथाके पात्र भी बहुत करके नागबंशी ही थे और नागदत्त जैन मुनि हुए; इससे उनका जैनधर्मी होना स्पष्टतः प्रकट है। उपरांत ऐतिहासिक कालके नागवंशी राजा जैन स्वीकार किये गये हैं।[3] सेन्द्रक नागवंशी राजा भी जैन थे।[4] इसप्रकार नागवंशी राजाओंका जैनधर्मसे प्राचीन सम्बन्ध प्रकट है। और यह संभव है कि भगवान पार्श्वनाथका उपासक कोई परमभक्त नागवंशी राजा हो, जो शासनदेव नागेन्द्र धरणेन्द्रके साथ भुला दिया गया हो। अहिच्छत्र' से जो भगवान पार्श्वनाथका सम्बन्ध बतलाया जाता है उससे भी यही अनुमान ठीक जंचता है; क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि भगवान पार्श्वनाथका केवलज्ञान स्थान प्रत्येक जैनशास्त्रमें बनारसके

१–हमारा भगवानमहावीर पृ० १४३। २–आ० कथा० भाग ३ पृ० १६१। ३–४–स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग २ पृ० ७४।

निकट अवस्थित उनका दीक्षावन बतलाया गया है। इसलिये अहिच्छत्रमें जिस नागराजने भगवानकी विनय की थी और उनपर सर्प–फण कर युक्त छत्र लगाया था वह एक नागवंशी राजा ही होना चाहिये। नागवंशी लोगोंके सर्प फण कर युक्त छत्र शीशपर रहता था वह पूर्वोल्लिखित मथुराके आयागपटमें की नागकन्याके उल्लेखसे स्पष्ट है एवं वहींकी एक अन्य जैन मूर्तिमें स्वयं एक नाग राजाका चित्र है और उसके शीशपर भी नागफणका छत्र है। तिसपर चीन यात्री ह्युनत्सांगका कथन है कि बौद्धोंका भी अहिच्छत्रसे सम्बन्ध था। वहां वह एक 'नागह्रद' बतलाता है जिसके निकटसे बुद्धने सात दिन तक एक नाग राजाको उपदेश दिया था। राजा अशोकने यहीं एक स्तूप बनवा दिया था।[1] आजकल वहां केवल स्तूपका पता चलता है जो 'छत्र' नामसे प्रख्यात है। इससे कनिंघम सा० यह अनुमान लगाते हैं कि नाग राजाके बौद्ध हो जानेपर उसने बुद्धपर नाग फणका छत्र लगाया होगा, जिसके ही कारण यह स्थान 'अहिच्छत्र' के नामसे विख्यात् होगया।[2] परन्तु बात दर असल यूं नहीं है, क्योंकि जैनशास्त्रोंके कथनसे हमें पता चलता है कि वह स्थान म० बुद्धके पहिलेसे अहिच्छत्र कहलाने लगा था। हतूभाग्यसे कनिंघम सा०को जैनधर्मके बारेमें कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं था; उसी कारण वह अहिच्छत्रका जैन सम्बंध प्रगट न कर सके। अतएव ह्युनत्सांगके उक्त उल्लेखसे यह तो स्पष्ट ही है कि अहिच्छत्रमें नाग राजाओंका राज्य म० बुद्धके समयमें

१–कनिंघम, एनशियेन्ट जागराफी ऑफ इन्डियां पृ० ४१२।
२–पूर्व प्रमाण।

मौजूद था और इस तरह उनका वहांपर प्राचीन अधिकारही होना चाहिये। इसलिये अहिच्छत्रकी तद्वत् प्रख्याति भगवान पार्श्वनाथकी विनय नाग छत्र आदि लगाकर वहांके नागवंशी राजानेकी इस कारण हुई थी, यह स्पष्ट है। श्री भावदेवसूरिके कथनसे इस विषयकी और भी पुष्टि होती है। वह कहते हैं कि 'कौशम्ब' वनमें धरणेन्द्रने आकर भगवान पार्श्वनाथके शीशपर अपना फण फैलाकर कृतज्ञता ज्ञापन की थी, इसलिए वह स्थान 'अहिच्छत्र' कहलाने लगा।[१] यहांपर भाव नागराजाके विनय प्रदर्शनके ही होसक्ते हैं क्योंकि हम भावदेवसूरिसे पहले हुये वादिराजसूरिके अनुसार धरणेन्द्रकी कृतज्ञता ज्ञापनका स्थान स्वयं बनारस ही देख चुके हैं। अस्तु, यह करीब२ निश्चयात्मक रूपमें कहा जासक्ता है कि भगवान् पार्श्वनाथका परमभक्त धरणेन्द्रके अतिरिक्त एक नागराजा भी था।

१-पार्श्वनाथचरित सर्ग १० श्लोक १४३......।

(१२)

नागवंशजोंका परिचय !

'पातालाधिपति प्रिया प्रणयिनी चिंतामणि प्राणिनां ।
श्रीमत्पार्श्वजिनेशशासनसुरी पद्मावती देवता ॥२२॥'

—बृहत्पद्मावती स्तोत्र

भगवान पार्श्वनाथके शासनरक्षक यक्ष—यक्षिणी* धरणेन्द्र और पद्मावती देवयोनिके थे, यह हम प्रगट कर चुके हैं। साथ ही देख चुके हैं कि कोई नागवंशी राजा अलग अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथका भक्त था और भगवान पार्श्वनाथसे उस नागवंशी राजाका सम्बन्ध था; किन्तु प्रश्न यह है कि यह नागवंशी राजा कौन थे ? क्या यह भारतीय थे ? अथवा इनका निवासस्थान भारतके बाहिर था ? सौभाग्यसे इन प्रश्नोंका समाधान भी सुगमतासे होजाता है और यह ज्ञात होता है कि यद्यपि नागवंशी मूलमें तो भारतके ही निवासी थे; परंतु उपरांत वह भारतमें बाहरसे ही आकर बस गये थे। जैन पद्मपुराणसे हमको पता चला है कि जिस समय भगवान ऋषभदेवने दीक्षा धारण करली थी, उससमय उनके निकट कच्छ-सुकच्छके पुत्र नमि-विनमि आये और अन्योंकी भांति राज्य देनेकी याचना उनसे करने लगे थे। इस मुनि अव-

* पार्श्वनाथ चरितमें श्री वादराजसूरिने इन्हें यक्ष बताया है, यह हम देख चुके हैं। श्री सकलकीर्ति आचार्यने भी धरणेन्द्रका उल्लेख 'यक्षराज' रूपमें अपने 'पार्श्वनाथ चरित'में (सर्ग १७ श्लो० १०४-१०५) में किया है। बरजेस (Burgess) सा० ने दिगम्बर मानताके अनुसार ऐसा ही प्रकट किया है। (Ind. Anti; XXXII, 459-464)

स्थामें ऋषभदेवजी पर यह एक तरहका उपसर्ग ही था। सो उनके पुण्य प्रभावसे वहां धरणेन्द्र आ उपस्थित हुआ और उसने नमि-विनमिको लेजाकर विजयार्ध पर्वतकी दोनों श्रेणियोंका राजा बना दिया और इनका वंश विद्याधरके नामसे प्रख्यात हुआ।[1] विद्याधर वंशमें अनेकों राजा होगये। उपरान्त इनमें रत्नपुर अथवा रथनूपुर नगरके राजा सहस्रारका पुत्र इन्द्र नामक राजा हुआ। यह श्री मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकालमें हुआ था। इन्द्रने जितने भी विद्याधर राजा उस समय चहुंओर फैल गये थे, उन सबको वश किया और स्वर्गलोकके इन्द्रकी तरह वह वहां राज्य करने लगा था। इसी इन्द्रने अपनेको बिल्कुल ही देवेन्द्रवत् माना और उसकी तरह ही अपना साम्राज्य फैलाया। जिसप्रकार देवेन्द्रके नौ भेद सामानिक, पारिषद आदि होते हैं; वैसे ही इसने नियत किये थे तथा जितने और देव थे उनकी भी कल्पना इसने विद्याधर लोगोंमें क्षेत्र आदि अपेक्षा की और उनके स्थानोंके नाम भी वैसे ही रक्खे।[2] पूर्वदिशामें जोतिपुर नगरमें राजा मकरध्वज और रानी अदितिका पुत्र सोम लोकपाल नियत किया। राजा मेघरथ और रानी वरुणाके पुत्र वरुणको मेघपुरमें पश्चिमदिशाका लोकपाल बनाया। कांचनपुरमें किहकंधसूर्य और कनकाके पुत्र पाश आयुध-वाले कुवेरको उत्तरदिशाका लोकपाल निर्दिष्ट किया एवं किहकंध-पुरमें राजा बालाग्नि और रानी श्रीप्रभाका पुत्र यम दक्षिणदिशाका लोकपाल स्थापित किया। इसी तरह असुरनगरके विद्याधर असुर, यक्षकीर्तिनगरके यक्ष, किन्नरनगरके किन्नर इत्यादि रूपमें देवोंके

१-श्री पद्मपुराण पृ० ४६। २-पूर्वग्रन्थ पृ० १०६-१०९।

भेदोंके समान ही कहाये। इसी तरह नागलोक अथवा पातालके निवासी विद्याधर नाग, सुपर्ण, गरुड़, विद्युत आदि नामसे प्रख्यात हुये।[1] इसप्रकार इस मनुष्य लोकमें ही देवलोककी नकल की गई थी। विद्याधर लोग हम आप जैसे मनुष्य ही थे और आर्यवंशज क्षत्री थे।[2] अस्तु, इस उल्लेखसे नागवंशियोंका आर्यवंशज मनुष्य होना प्रमाणित है और यह प्रकट है कि देवलोककी तरह नागदेश और वंश यहां भी मौजूद थे। अतः जैन कथाओंमेंके नागलोक मनुष्य भी होसक्ते हैं; जैसे कि हम पूर्व परिच्छेदमें देख चुके हैं।

विजयार्ध पर्वत भरतक्षेत्रके बीचोबीचमें बतलाया गया है। इस पर्वत और गंगा-सिंधु नदियोंसे भरतक्षेत्रके छह खण्ड होगये हैं; जिनमेंसे बीचका एक खण्ड आर्यखण्ड है और शेष सब म्लेच्छ खण्ड हैं।[3] भरतक्षेत्रका विस्तार ५२६ ६/१९ योजन कहा गया है और एक योजन २००० कोसका माना गया है।[4] अतएव कुल भरतक्षेत्र आजकलकी उपलब्ध दुनियांसे बहुत विस्तृत ज्ञात होता है। इस अवस्थामें उपलब्ध पृथ्वीका समावेश भरतक्षेत्रके आर्य खण्डमें ही होजाना संभव है और इसमें विजयार्ध पर्वतका मिलना कठिन है। श्रीयुत पं० वृन्दावनजीने भी इस विषयमें यही कहा था कि-"भरतक्षेत्रकी पृथ्वीका क्षेत्र तो बहुत बड़ा है। हिमवत कुलाचलतैं लगाय जंबूद्वीपकी कोट ताईं, बीचि कछू अधिक दश लाख कोश चौड़ा है। तामें यह आर्यखण्ड भी बहुत बड़ा है। यामैं बीचि यह खाड़ी समुद्र है, ताकूं उपसमुद्र कहिये है।.......अर अवार

१-पूर्वग्रन्थ पृ० ११३। २-पूर्वग्रन्थ पृ० ६८। ३-संक्षिप्त जैन इतिहास पृ० २। ४-तत्वार्थाधिगम सूत्र (S. B. J.) पृ० ९१।

आयु काय निपट छोटी है। ताका गमन भी थोरे ही क्षेत्र होय है।"[1] श्रीमान् स्व० पूज्य पं० गोपालदासजी बरैया भी वर्तनकी उपलब्ध दुनियांको आर्यखंडके अन्तर्गत स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं। (देखो जैनहितैषी भाग ७ अंक ६) तथापि श्री श्रवणबेलगोलाके मठाधीश स्व० पंडिताचार्यजी भी इस मतको मान्यता देते थे। उनने आर्यखण्डको ९६ देशोंमें विभक्त बताया था, जिनमें अरब और चीन भी सम्मिलित थे। (देखो एशियाटिक रिसर्चेज भाग ९ पृ० २८२) तिसपर मध्य एशिया, अफरीका आदि देशोंका 'आर्यन' अथवा 'आर्यवीज'[2] आदि रूपमें जो उल्लेख हुआ मिलता है वह भी जैनशास्त्रकी इस मान्यताका समर्थक है कि यह सब प्रदेश जो आज उपलब्ध हैं प्रायः आर्यखण्डके ही विविध देश हैं। अगाड़ी पातालका स्थान नियत करते हुये इसका और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जायगा। यहांपर विजयार्ध पर्वतकी लंबाई-चौड़ाईपर भी जरा गौर कर लेना जरूरी है। शास्त्रोंमें कहा है कि विजयार्ध २५ योजन ऊंचा और भूमिपर ५० योजन चौड़ा है। भूमिसे १० योजनकी ऊंचाईपर इसकी दक्षिणीय और उत्तरीय दो श्रेणियां हैं जिनपर विद्याधर बसते हैं और जैन मंदिर है।[3] यह पूर्व-पश्चिम समुद्रसे समुद्र तक विस्तृत है और चांदीके समान सफेद है।[4] इस तरह विजयार्ध पर्वत ५० हजार कोश ऊंचा प्रमाणित होता है; किन्तु आजकल ऊंचेसे ऊंचा पहाड़ तीस हजार

१–वृन्दावनविलास पृ० १३०। २–ऐशियाटिक रिसचेज भाग ३ पृ० ८८ आर विश्वकोष भाग २ पृ० ६७१–६७४। ३–पद्मपुराण पृ० ५८–५९। ४–हरिवंशपुराण पृ० ५४।

फीटसे ज्यादा ऊंचा नहीं है। आजकलके हिमालयकी ऐवरेस्ट नामक चोटी ही दुनियांमें सबसे ऊंची समझी जाती है और यह २९००२ फीट ऊंचाईमें है।[1] हिमालयके बारेमें यह भी कहा जाता है कि वह पूर्व-पश्चिम समुद्रसे समुद्र तक विस्तृत है;[2] परन्तु इस साद्दश्यताके साथ उसका और वर्णन विजयार्धसे नहीं मिलता तथापि उसका इतना विस्तार अर्वाचीन है, क्योंकि यह कहा गया है कि एक जमानेमें हिमालयका अधिकांश भाग जलमग्न था।[3] नेपाल प्रदेश एक जलकुंड अथवा ह्रद था, यह नेपालवासियोंका भी विश्वास है।[4] अतएव यह स्पष्ट है कि उपलब्ध दुनियांमें विजयार्धका पता लगाना कठिन है और इस हालतमें उपलब्ध प्रदेश आर्यखंड ही प्रकट होता है।

हिन्दू पौराणिकोंने इन्द्रकी राजधानी और उसके उद्यान आदि उत्तरीय ध्रुवमें स्थित बतलाये हैं। स्वर्गादिकी कल्पना भी उन्होंने वहीं की है[5]। यह इन्द्र और स्वर्ग आदि देवलोकके होना अशक्य हैं; क्योंकि हिन्दू शास्त्रोंमें भी इनको अपर (ऊर्ध्व) लोकमें बतलाया है। अतएव यह इन्द्र और उसके स्वर्ग आदि जैनशास्त्रोंके इन्द्र, विद्याधर और उसके स्थापित किए हुए नकली स्वर्गादि ही प्रकट होते हैं। इस अवस्थामें विजयार्ध उत्तरध्रुवमें कहींपर अवस्थित होना चाहिये। उत्तरध्रुवकी अभी तक जो खोज हुई है उससे यह तो प्रकट होगया है कि वहांपर भी किसी जमानेमें बड़े सभ्य

१-दी रायल वर्ल्ड ऐटलस पृ० ७। २-एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ६८। ३-प्री-हिस्टॉरिक इन्डिया पृ० ४२-४५। ४-हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० ७७। ५-एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५२।

मनुष्य रहते थे; क्योंकि वहांपर उजड़े हुये नगरोंके खण्डहर और शिल्पनिपुणताकी अनूठी मूर्तियां भी मिलीं हैं। कालदोषसे वहांके निवासियोंका पता आजकल अभीतक नहीं चला है; किन्तु हिन्दू पुराणोंके वर्णनसे यह प्रकट होता है कि वहांके निवासी बर्फकी अधिकतासे एक समयमें नीचेकी ओर यूरोप और मध्य एशिया आदिकी ओर हटते आये थे[1]। पदार्थ विज्ञानके इतिहाससे भी यह पता चलता है कि एक जमानेमें बर्फकी अधिक प्रधानता होगई थी और उस 'शीतकाल'में संसारके निवासियोंमें हलचल मची थी।[2] इस तरह जैनशास्त्रोंके कथनकी एक तरहसे पुष्टि ही होती है; क्योंकि वे मूलमें विद्याधरोंका राज्य विजयार्ध पर बतलाते हैं और उपरान्तमें उनको तमाम यूरोप, अफरीका और मध्य एशियामें फैल गया निर्दिष्ट करते हैं,[3] जैसे कि हम जरा अगाड़ी देखेंगे। मध्यएशिया, तुर्किस्तान, और तातार देशके निवासी अपनेको जो एक काश्यप नामक पुरुषका वंशज बतलाते हैं;[4] वह भी जैन मान्यताका समर्थन करता है, क्योंकि भगवान ऋषभदेवका गोत्र काश्यप था और उनसे याचना करनेपर ही विद्याधर वंशके आदि पुरुष नमि-विनमिको राज्य मिला था। इन देशोंके निवासी असुर, दैत्य, नाग आदि विद्याधर वंशज थे, यह हम ऊपर देख ही आये हैं, जिनका अस्तित्व वैदिककालसे लेकर पौराणिक समय तक बराबर मिलता है।[5]

यहां तकके कथनसे यद्यपि विजयार्ध और आर्यखंडके संबंधमें

१-'वीर' भाग २ अंक १०-११। २-प्री-हिस्टॉरिक इन्डिया पृ० ४३। ३-पद्मपुराण पृ० ५२-१२५। ४-इन्डियन हिस्टारीकल क्वारटर्ली भाग २ पृ० २८। ५-पूर्वभाग १ पृ० १३२।

कुछ मालूम हो गया है, पर अभीतक नागोंके निवासस्थान पाताल लोकके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है। आधुनिक विद्वानोंने दैत्य, दानव, असुर, नाग, गरुड़ आदिका निवास स्थान हूण जातियोंका मूलगृह मध्यएशिया और तुर्किस्तान बतलाया है।[१] उनके अनुसार नाग, गरुड आदि सब ही हूण अथवा शक जातियोंके ही भेद हैं। इसको उन्होंने सप्रमाण सिद्ध भी किया है। उनका यह कथन जैन शास्त्रोंसे भी ठीक ही प्रतिभाषित होता है, यह हम यहांपर पातालके विषयमें विचार करते हुए निर्दिष्ट करेंगे।

इस स्पष्टीकरणके लिये हमें मुख्यतः श्री पद्मपुराणजीका आधार लेना पड़ेगा। इस पुराणमें श्री रामचन्द्रजी व रावणका चरित्र वर्णित है। संक्षेपमें उसपर एक नजर डाल लेना हमारे लिये परमावश्यक है। अस्तु; इसमें लिखा है कि सम्राट् सगरचक्रवर्तीके समयमें विजयार्धकी दक्षिण श्रेणिमें एक चक्रवाल नगरका राजा पूर्णधन था। विहायतिलक नगरके राजा सहस्रनयनने सम्राट् सगरकी सहायतासे इसे तलवारकी घाट उतार दिया। इसका पुत्र मेघवाहन भागकर भगवान अजितनाथजीके समवशरणमें पहुंचा। वहांपर राक्षसदेवोंके इन्द्र भीम और सुभीम उससे प्रसन्न हुये और उसे लवण समुद्रमेंके अनेक अन्तर द्वीपोंमेंसे एक राक्षस द्वीपका अधिपति बना दिया। यह राक्षसद्वीप सातसौ योजन लम्बा और चौड़ा बताया गया है और इसके मध्यमें त्रिकूटाचल पर्वत बतलाया है। यहां योजनका परिमाण फीयोजन चार कोश समझना उचित है। यह त्रिकूटाचल पर्वत रत्नजटित था। इसी पर्वतके

१–पूर्वभाग १ पृ० १३४।

तले ३० योजन प्रमाण लंका नामक नगरी थी, जिसके अनेक उद्यान और कमलोंसे मंडित सरोवर थे। यहां जिनेन्द्र भगवानके अनुपम चैत्यालय भी थे। यह दक्षिण दिशाका तिलकरूप नगर था। मेघवाहन आनन्दसे यहां रहने लगे थे। इसके साथ ही उनको पाताल लँका भी मिली थी। यह धरतीके बीचमें थी और इसका मुख्य नगर अलंकारोदयपुर ६ योजन औंडा और १३१॥ योजन चौड़ा था। मेघवाहनने लंका तो अपनी राजधानी बनाई और पाताल–लंका भय निवारणका स्थान नियत किया। जिस समय मेघवाहन विमानमें बैठकर लंकाको चले थे तो उनको बीचमें श्यामवर्णका लवण समुद्र पड़ा था।

मेघवाहन महारक्षको राज्यदे मुनि हुए। महारक्षके अमररक्ष उदधिरक्ष, भानुरक्ष ये तीन पुत्र हुए। महारक्ष भी दीक्षा ले गए, सो अमररक्षक राजा हुये और युवराज पदपर भानुरक्ष नियत हुये। अमररक्षका विवाह किन्नरनाद नगरके श्रीधर विद्याधर राजाकी पुत्री अरिजयासे हुआ था। गंधर्वगीत नगरके सुरसन्निभ राजाकी गंधर्वा पुत्री भानुरक्षने परणी थी। बड़े भाईके दशपुत्र और छह पुत्री थीं इतने ही संतान छोटे भाईके थे। पुत्रोंने अपने २ नामके नगर बसाये सो कुल इसप्रकार थे:—

१ सन्ध्याकार, २ सुदेव, ३ मनोह्लाद, ४ मनोहर, ५ हंसद्वीप, ६ हरि, ७ जोध, ८ समुद्र, ९ कांचन १० अर्धस्वर्म, ११ आवर्त, १२ विघट, १३ अम्मोद, १४ उत्कट, १५ स्फुट, १६ रतुगृह, १७ तद्य, १८ तोय, १९ आवली और २० रत्नद्वीप।

अमररक्ष और भानुरक्ष भी मुनि होगए। उपरान्त बहुत

राजाओंमें एक रक्ष, जिसका पुत्र राक्षस हुआ। इन्हींके नामसे इस वंशके राजा 'राक्षस' कहलाने लगे। राक्षसके दो पुत्र आदित्य गति और कीर्तिधवल हुये। विजयार्ध दक्षिण श्रेणीके मेघपुरके राजा अतीन्द्रके पुत्र श्रीकंठने अपनी मनोहरदेवी कन्या कीर्तिधवलको दे दी; पर रत्नपुरके पुष्पोतर राजा उसे अपने पुत्र पद्मोत्तरके लिये चाहते थे। श्रीकंठने सुमेरु यात्रा करते हुए पद्मोत्तरकी बहिन पद्माभाको देखा सो वह उसे उठा लाया। इसपर लड़ाई हुई, पर पद्माभाके कहनेसे संधि होगई। कीर्तिधवलके आधीन निम्नदेश थे:—

सन्ध्याकार, सुबेल, कांचन, हरिपुर, जोधन, जलधिध्यान, हंसद्वीप, भरक्षम, अर्धखर्ग, कूटावर्त, विघट, रोधन, अमलकांत, स्फुटतट, रत्नद्वीप, तोशावली, सर, अलंघन, नभोभा, क्षेम इत्यादि।

श्रीकंठ उपरोक्त संधिमें अपना राज्य खो बैठा था, सो कीर्तिधवलने इसे लंकासे उत्तर भाग तीनसौ योजन समुद्रके मध्य बानरद्वीप, जिसके मध्य किहुकुंदा पर्वत था, वह दिया। इस द्वीपमें बानर मनुष्य समान क्रीड़ा करते थे। श्रीकंठने उन्हें पाला और किहुकंद पर्वतपर किहुकंद नगर बसाया। इसके उत्तराधिकारियोंमें एक अमरप्रभ राजा हुआ, जिसने लंकाके राजाकी पुत्री गुणवतीसे विवाह किया था। इसीने अपनी ध्वजामें 'वानर' चिन्ह रखना प्रारम्भ किया, जिससे इसके वंशज बानरवंशी कहलाने लगे थे। इसने विजयार्धके सारे राजाओंको जीता था। उपरांत अनेक राजाओंके बाद इस वंशमें एक राजा महोदधि नामक श्रीमुनि सुव्रतनाथजी (२०वें तीर्थंकर)के समयमें हुआ था। इनके समयमें लंकाका राजा इनका मित्र विद्युतकेश था। फिर एक किहकंध नामक राजा

हुआ । इसे लाल मुखवाला विद्याधर लिखा है ।* इसे विद्याधरोंने हराया था, सो यह वानरद्वीप छोड़ पाताल-लंकामें आया था। राक्षसवंशी भी वहीं पहुंचे। निर्घात लंकाका राजा हुआ। बहुत दिन पाताल-लंकामें रहते किहुकंधका जी ऊब उठा। उसने दक्षिण समुद्रके तटपर करनतट वनके पहाड़पर किहुकंधपुर नगर बसाया। कर्णपर्वतपर इसके जमाईने वर्णकुण्डल नगर बसाया। पाताललंकाके स्वामी सुकेशके तीन पुत्र थे माली, सुमाली और माल्यवान। निर्घात्के कुटुम्बी दैत्य कहलाते थे, सो इनसे उक्त तीन पुत्रोंने लंका वापस जीत ली। यज्ञपुरके विश्रव कौशिकीके पुत्र वैश्रवणको वहांका राजा बनाया। पाताललंकामें सुमालीका रत्नश्रवा रहा। इसने पुष्पकवनमें विद्या साधी। वहां केसकी नामक राजपुत्री इसकी सेवामें रही। विद्या सिद्ध होनेपर इसने वहीं पुष्पांतक नगर बसाया। इन्हींके यहां रावणका जन्म हुआ। बालपनेमें रावणने उस हारको उठा लिया था जिसकी रक्षा एक हजार नागकुमार करते थे। उपरांत इसने भीम नामक वनमें एक स्वयंप्रभ नामक नगर बसाया था। रावणका विवाह विजयार्धपर्वतकी दक्षिण श्रेणीके नगर असुरसंगतिके राजा मयकी पुत्री मंदोदरीसे हुआ था। राजा मय विद्याधर ही था, परंतु दैत्य कहलाता था। लंकाके राजा वैश्रवणके वंशज यक्ष कहलाते थे। वैश्रवण और रावणमें युद्ध हुआ था, जिसमें वैश्रवणकी पराजय हुई थी। लोग उसे रणभूमिसे उठाकर यक्षपुर लेगए थे। वहां उसने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी।

* लाल मुखवाले 'रेड इन्डियन्स' आज उत्तरीय अमेरिकामें मिलते हैं। सम्भव है वानरवंशी राजाओंका राज यहीं रहा हो।

पुष्पकके मध्य एक महा कमलवन है सो वहांसे विमानमें बैठकर रावण दक्षिण समुद्रकी ओर लंकाको चला और त्रिकूटाचल पर्वत पर पद्मरागमणिमई चैत्यालय देखे। इधर सूर्यरज और रक्षरज बानरवंशियोंने भी पाताल लंकाके अलकनगरसे निकलकर किहकूपुर बानरद्वीपमें जा घेरा। राजा इंद्रके दिकूपाल यमने उनसे युद्ध किया, जिसमें बानरवंशी कैदी हुए। मेघलवनमें नरक नामक बंदीगृहमें यह कैद रक्खे गए। इसपर रावणने यमको आ घेरा। यम भागकर राजा इंद्रके पास रथनूपुर जा पहुंचा। रावण लौटकर त्रिकूटाचल पर्वतको चला गया, जहांसे समुद्र दिखाई पड़ता था। उपरांत किहकंधपुरमें बानरवंशी सूर्यरजके पुत्र बाली और सुग्रीव हुए। पाताल लंकामें खरदूषण रावणका बहनोई राज्याधिकारी हुआ। पाताल—लंकामें मणिकांत पर्वत था। बाली वैराग्य पा मुनि होगये, रावण दिग्विजयको निकले सो सुग्रीवने उससे मैत्री कर ली। पहले उनने अंतरद्वीप वश किये फिर संध्याकार, सुवेल, हेमा, पूर्ण, सुयोधन, हंसद्वीप, बारिहव्यादि देशोंके विद्याधर राजाओंसे उनने भेंट ली। उपरान्त रथनूपुरके राजा इंद्रको वश करने रावण चला सो पहले अपने खरदूषण बहनोईके पास पाताल लंकामें डेरा डाले। हिडम्ब, हैहिडिम्ब, विकट, त्रिजट, हयमाकोट, सुजट, टंक, सुग्रीव, त्रिपुर, मलय, हेमपाल, कोल, वसुंदर इत्यादि राजा उसके साथ थे। खरदूषण कुंभ, निकुम्भ, आदि राजाओंके साथ इनके साथ होलिया। यहांसे निकलकर रावणको सूर्यास्त विंध्याचल पर्वतके समीप हुआ। नर्मदाके तट रावण ठहर गये। वहां माहिष्मतीके राजा सहस्त्ररश्मिकी केलि—क्रीड़ासे रावणकी पूजामें

विघ्न हुआ सो उनमें युद्ध छिड़ गया। भूमिगोचरी सहस्ररश्मि पकड़ा गया। शतबाहु मुनिके कहनेसे रावणने उसे छोड़ दिया। परंतु उसने पुत्रको राज्य दे मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। फिर रावणने उत्तरदिशाके सब राजा वश किये। राजपुरनगरका मरुत यज्ञ कर रहा था, नारदके समझानेपर भी वह नहीं माना था। रावणने उसको भी वश किया। इतनेमें वर्षाऋतु आई; सो रावणने गंगातट पर ठहरकर बिताई। यहीं उसने अपनी पुत्री कृतचित्रा मथुराके राजा मधुको विवाह दी थी। यहांसे ही उसने सम्मेदशिखरकी वंदना की थी और फिर अगाड़ी चलकर वह कैलाशके समीप पहुंचा था। यहांपर इंद्रका दिग्पाल दुर्लंघिपुरका स्वामी नलकूबर रावणका सामना करनेको आया। उसने इंद्रको भी खबर भेज दी। इंद्र उस समय पांडुवनके चैत्यालयोंकी वंदना कर रहा था। उसने आनेकी तैयारी की; इतनेमें नलकूबर परास्त होगया। रास्ता साफ पा रावण अगाड़ी बैताड्य पर्वतपर पहुंचे। इंद्रने भी रावणको नजदीक आया जानकर सिरपर टोप रखकर रणभेरी बजवा दी। संग्राम छिड़ गया। रावणके योद्धा बज्रवेग, हस्त, प्रहस्त, मारीचि, उद्भव, बज्र, वक्र, शुक्र, सारन, महाजय आदि थे। इन्द्रके मेघमाली, तडसंग, ज्वलिताक्ष, अरि, खेचर, पाचकसिंहन आदि थे। इंद्रकी ही पराजय हुई। रावण लौटकर लंका जाने लगा। रास्तेमें गंधमान पर्वत देखा। इधर इन्द्र मुनि होकर अन्ततः मोक्षको गए।

इसतरह रावण आनन्दसे पातालपुरके समीप तिष्ठता राज्य कर रहा था कि पातालनगरके राजा वरुणसे रावणका युद्ध हुआ

था। इसी समय अपने मामाके यहां हनुरुहद्वीपमें जन्म पाकर बड़े हुये हनूमान भी लंका आये थे। बीची पर्वत इनको मार्गमें पड़ा था। उपरान्त वह समुद्रको भेदकर वरुणके नगरपर पहुंचे थे। युद्धमें वरुण पकड़ा गया था। वहांके भवनोन्माद वनमें रावणने डेरा दिये थे और उसकी सत्यवती कन्याको परणा था। हनूमानको रावणने अपनी धेवती विवाही थी और उसे कर्णकुण्डलपुरका राज्य दिया था। लंकामें लौटकर शांतिनाथजीके चैत्यालयकी वंदना कर रावण आनन्दसे रहता था।

उपरांत सुकौशल देशकी राजधानी अयोध्यामें इक्ष्वाकवंशी राजा दशरथ राज्य करते थे। इन्हींके समयमें अर्ध बरबर देशके म्लेच्छोंने भारतवर्षपर आक्रमण किया था। अर्धबरबरदेश वैताड्यके दक्षिण भागमें और कैलासके उत्तरमें अवस्थित अनेक अन्तर देशोंमें एक था। यहां मयूरमाला नगरका राजा म्लेच्छ अन्तर्गत नामक था। कालिंद्रीभागा नदीकी ओर यह विषम म्लेच्छ थे। इनके साथ किरात, भील आदि थे। इन म्लेच्छोंमें श्याम, कर्दम, ताम्र आदि वर्णके लोग थे तथा कई एक वृक्षोंके वल्कल पहिने हुए थे। दशरथ जनक, राम और लक्ष्मणने इनको हराया और यह विन्ध्याचल आदि गहन स्थानोंमें वस गए। राम जब वनवासके दिन काटते हुए दक्षिण भारतमें पहुंचे, तो वहां इन्होंको उनने परास्त किया था। उपरांत दंडकवनसे रावण सीताको हर लेगया था। इधर खरदूषणका पुत्र अज्ञात लक्ष्मणके हाथसे मारा गया था; सो खरदूषण इनपर चढ़ आया था। आखिर इस युद्धमें वही काम आया था। चन्द्रोदयके पुत्र विराधित विद्याधरके कहनेसे राम-लक्ष्मण पाताल

लंका पहुंचे थे। उधर वहांसे आकर किहकंधापुरके राजा सुग्रीवकी सहायता राम-लक्ष्मणने की, सो सब वानरवंशी इनके सहायक हो गये थे। इसी समय क्रौंचपुरके राजा यक्ष और रानी राजिलताका पुत्र यक्षदत्त था। वह एक स्त्रीपर मोहित था। ऐनमुनिके समझानेसे वह मान गया था। उपरांत किहकंधापुरसे हनूमान सीताका पता लगाने चला था, सो पहले उसने महेन्द्रपुरमें अपने मामाको वश किया था। उनको रामचंद्रजीके पास भेजकर फिर वह अगाड़ी बढ़ा था और उसे दधिमुखद्वीप पड़ा था जिसमें दधिमुख नगर था। वहां निकट आग लगे वनमें दो मुनिराज व तीन कन्यायें हनूमानजीने देखीं थीं। उनका उपसर्ग उन्होंने दूर किया था। दधिमुख नगरके राजा यक्षकी वे तीन कन्यायें थीं। आखिर उनको रामचंद्रने परणा था। फिर हनूमान लंका पहुंच गए थे। प्रमदवनमें उसने सीताको देखा था। हनूमान सीताकी खबर ले जब लौट आए तब राम-लक्ष्मणने लंकापर चढ़ाई की थी। वे पहले बेलंधरपुर पहुंचे थे और वहांके समुद्र नामक राजाको परास्त किया था। फिर सुबेल पर्वतपर सुबेल नामक विद्याधरको वश किया था। उपरांत अक्षयवनमें रात्रि पूरी की थी। अगाड़ी चले तो लंका दूरसे दिखाई पड़ी। हंसद्वीपमें डेरा डाले और वहांके हंसरथ राजाको जीता। हंसद्वीपके अगाड़ी रणक्षेत्र रच दिया। रावणके सेनापति अरिंजयपुर नगरके राजाके दो पुत्र थे। यह अपने पूर्वभवोंमें एकदा कुशस्थल नगरमें निर्धन ब्राह्मण जिनधर्मसे पराङ्मुख थे। जैनी मित्रके संयोगसे जैनी हुये और फिर अन्य भवमें तापस होकर अरिंजयनगरके राजाके पुत्र हुये थे। रावणसे युद्ध हुआ। सुग्रीव और भामण्डल

शक्तिहीन हुये सो गरुडेन्द्रको रामचन्द्रने याद किया। उसने सिंहवाहन और गरुड वाहन नामक देव भेजे; जिनके प्रतापसे सुग्रीव भामण्डलका नागपाश दूर हुआ। गरुड़के पंखोंकी पवन क्षीरसागरके जलको क्षोभरूप करने लगी सो वह नाग वहांसे विलीन होगए। इन्द्र नीलमणिकी प्रभासे युक्त रावण उद्धत रूपसे संग्राम करने लगा, विद्या साधने लगा और फिर आखिर मृत्युको प्राप्त हुआ था। लक्ष्मणने कुबरके राजा बालखिल्यकी पुत्री कल्याणमालासे यहीं विवाह किया था और फिर लवण समुद्र लांघकर अयोध्या पहुंचे थे। इस तरह श्रीपद्मपुराणमें यह कथन है। अब इस कथनके आधारसे हमें पातालपुरका पता लगाना सुगम होजाता है।

उपरोक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि भारतसे दक्षिण पश्चिमकी ओर लंका थी और लंका पहुंचनेके पहले पाताललंका पड़ती थी, क्योंकि पाताल-लंका ही रावणको दिग्विजयके लिए निकलते समय पहले आई थी। फिर पाताल-लंकासे खरदूषणने राम-लक्ष्मणपर जो दंडकवनमें आक्रमण किया था, सो उसकी खबर रावणको नहीं हुई थी; क्योंकि पाताल-लंकासे भारत आते हुये बीचमें लंका नहीं पड़ती थी-वह उससे ऊपर रह जाती थी यह प्रगट होता है। किंतु हनूमानजीको लंका जाते हुये मार्गमें पाताललंका नहीं पड़ी थी; इसका यही कारण हो सक्ता है कि वे दूसरे मार्गसे गये थे। यही बात राम-लक्ष्मणके आक्रमणकी समझना चाहिये। वहां भी पाताल लंकाका उल्लेख नहीं मिलता है; किंतु यहां यह संभव है कि वे पाताल-लंका तक पहुंच ही न पाये हों और हंसद्वीपमें रणभूमि रचकर बैठ गए हों, जो पाताल-लंकाके इतर भागमें हो। इस विषयमें निश्चयरूपसे जाननेके लिये हमें

देखना चाहिए कि राक्षसद्वीप अथवा लंका और पाताललंका कहांपर थे ? आजकलकी मानी हुई लंका (Ceylon) तो यह हो नहीं सक्ती; क्योंकि भारतसे प्राचीन लंकातक पहुंचनेमें कितने ही द्वीप पड़ते थे। जब रावण सीताको हरकर लिये जारहा था तो बीच समुद्रमें रत्नजटी विद्याधरने उसका मुकाबिला किया था और वह परास्त होकर कम्पूद्वीपमें जा गिरा था।[१] और फिर उसे अनेक अंतर द्वीपोंमेंसे एक बताया गया है। मौजूदा लंका एक अंतर द्वीप न होकर द्वीप है। तिसपर प्राचीन कथाओंमें इसका उल्लेख रत्नद्वीप और सिंहलद्वीपके नामसे हुआ मिलता है[२] और इसमें त्रिकूटाचल पर्वत भी कहीं दिखाई नहीं पड़ता है। इसलिये यह राक्षस वंशियोंके निवास स्थान जो सन्ध्याकार आदि बताये गये हैं, उनमें,का रत्नद्वीप ही होगा, यह उचित प्रतीत होता है। इस अपेक्षासे राक्षसोंके इन आसपासके स्थानोंको छोड़कर कहीं दूर अंतरदेशमें लंका और पाताललंका होना चाहिये।

हिन्दू पुराणोंमें शङ्खद्वीपमें राक्षसों और म्लेच्छोंका निवास बतलाया है[३] और अन्ततः राक्षसोंकी अपेक्षा ही उनने उस स्थानका नाम 'राक्षस स्थान' रख दिया है।[४] हिन्दू शास्त्रोंमें यह राक्षस लोग भयानक देव बतलाये गये हैं।[५] परंतु बात वास्तवमें यूं नहीं है। यह मनुष्य विद्याधर ही थे। हिन्दू शास्त्रकारोंने इनका उल्लेख भयानक राक्षसों और म्लेच्छोंके रूपमें केवल पारस्परिक स्पर्द्धासे ही

१-जैन पद्मपुराण पृ० ५५६। २-कनिंघम, एनशियन्ट जागराफी ऑफ इन्डिया पृ० ६३७-६३८। ३-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १००। ४-पूर्व० पृ० १८५। ५-पूर्व० पृ० १००।

किया है, क्योंकि हम जानते हैं कि यह विद्याधर जैन धर्मानुयायी थे। रामायणमें स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि राक्षस–दैत्य आदि यज्ञमें आनकर विघ्न उपस्थित करने लगे थे और ऊपर जैन पद्म-पुराणके वर्णनमें हम देख आये हैं कि राक्षसवंशी रावणने यज्ञकार्य बंद कराया ही था। इस अपेक्षा यह स्पष्ट है कि विद्याधर मनुष्योंको राक्षस आदि देवयोनिके बतलाना केवल पारस्परिक स्पर्द्धाके ही कारण था। याज्ञवल्क्यने, इसी स्पर्द्धाके कारण गंगाकी तराईमें रहनेवाले मनुष्यों अथवा पूर्वीय आर्योंको जो बहुतायतसे काशी, कौशल, विदेह और मगधमें वेद विरोधी बने रहते थे और जो बहुत करके जैन ही थे 'भृष्ट' संज्ञासे विभूषित किया था।[१] सारांशतः यह स्वीकार किया जासक्ता है कि शङ्खद्वीपमें रहनेवाले राक्षस और म्लेच्छ वास्तवमें आर्य मनुष्य ही थे और प्रायः जैन थे।

अब देखना यह है कि शङ्खद्वीपमेंका यह राक्षसस्थान कहां पर है? एक यूरोपीय प्राच्य विद्याविशारद शङ्खद्वीपको आजकलका मिश्र (Egypt) सिद्ध करते हैं और उसीमें राक्षसस्थान प्रमाणित करते हैं।[२] वह राक्षसस्थान वही प्रदेश बतलाते हैं जिसको यूनानवासियोंने रॉकोटिस (Rhacotis) संज्ञा दी थी अथवा जिसको उन्हींका भूगोलवेत्ता केडरेनस (Cedrenus) 'रॉखास्तेन' (Rhakhasten) नामसे उल्लेखित करता है।[३] यह स्थान मौजूदा अलेक्ज़ांड्रियाके ही स्थलकी ओर था और प्राचीनकालमें अवश्य ही बिशेष महत्वका स्थान रहा होगा, क्योंकि भूगोलवेत्ता लिनी

१–संक्षिप्त जैन इतिहास पृ० ११–१२। २–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १००। ३–पूर्व० पृ० १८९।

(Pliny) बतलाता है कि मेसफीस (Mesphees) नामक मिश्रके एक प्राचीन राजाने यहांपर दो चौकोने स्तंभ (Obcliks) बनवाये थे और उससे पहलेके राजाओंने यहां अनेक किला आदि बनवाये थे।[1] यह स्थान अन्तरीय कुशद्वीपके किनारेपर[2] अवस्थित 'त्रिशृङ्ग' अर्थात् तीन कूटवाले पर्वतसे हटकर नीचेमें था। जैन शास्त्र राक्षसद्वीपमें तीन कूटवाला त्रिकूटाचल पर्वत बतलाते हैं; उसकी तलीमें लङ्कापुरी कहीं गई है। हिन्दू और जैन शास्त्रकारोंके बताये हुए नामोंसे किञ्चित अन्तर आना स्वाभाविक ही है; किन्तु उपरोक्त सादृश्यताको ध्यानमें रखते हुये राक्षसद्वीप और लंकाका मिश्रमें होना ठीक जंचता है। वैसे भी लोक व्यवहारमें लंका 'सोने' की मानी जाती है और मिश्रके प्राचीन राजाओंकी जो सोनेकी चीजें अभी हालमें भूगर्भसे निकलीं हैं, वह इस जनश्रुतिको सत्य प्रकट करती हैं।[3] तिसपर जैनशास्त्रमें जो लंकाके पास कमलोंसे मंडित कई उद्यान और वन बतलाये हैं; वह भी यहां मिल जाते हैं। मिश्रका ऊर्ध्वभाग, जिसमेंकि अलेकजन्ड्रिया आदि अवस्थित हैं इन्हीं वनोंके कारण 'अरण्य' अथवा 'अटवी' के नामसे ज्ञात था।[4] सचमुच पहले नील (Nile) नदीका यह मुहाना गहन वनसे भरा हुआ था और यूनानीलोग उसे अपनी देवीका पवित्रस्थान (Sacred to the Godess Diana) मानते थे।[5] उनका यह मानना एक तरहसे है भी ठीक क्योंकि महासती सीताके निवासस्थानसे यह वन पवित्र होचुके थे।

१-पूर्व० पृ० १८९। २-पूर्व० पृ० १५४। ३-माडर्नरिव्यू Vol XL. ४-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ९७। ५-पूर्व० पृ० १६४।

इसतरह लंकामें जो पर्वत आदि बताये गये थे, वह सब उक्त प्रकार मिश्रमें मिल जाते हैं। इसलिये लंकाका यहां ही होना ठीक है।

यदि लंका ऊपरी मिश्रमें मानी जावे तो पाताल लंकाका उससे नीचे होना आवश्यक ठहरता है। पाताल-लंकाके निकट, पद्मपुराणके उपरोक्त वर्णनमें पुष्पकवन और उसीमें उपरान्त पुष्पांतक नगरका बसाया जाना लिखा है तथापि पुष्पकके मध्य एक महाकमल बन भी था और स्वयं पाताल लंकामें एक मणिकांत पर्वत बतलाया गया है। इन स्थानोंको ध्यानमें रखनेसे हमें मिश्रके नीचेके स्थान अबेसिनिया (Abyssenia) और इथ्यूपिया (Ethiopia) ही पाताल लंका प्रतिभाषित होते हैं। इन्हीं दोनों देशोंमें पाताल लंकाके उपरोल्लिखित स्थान हमें मिल जाते हैं। अबेसिनियाके निकट इथ्यूपियामें पुष्पवर्ष स्थान बतलाया गया है जहां अबेसिनियाकी नन्दा अथवा नील नदी बृहत् नील (Nile) में आकर मिलती है।[1] यहीं इसी नामके पर्वत व वन हैं। तथा इन्हींके नीचे जो पद्मवन बताया गया है वह महा कमलवन होगा; क्योंकि कमल और पद्म पर्यायवाची शब्द हैं और पद्मवनमें कोटिपत्रदलके कमल होते थे;[2] इसलिये उनका पर्यायवाची एवं और भी स्पष्ट नाम महाकमलवन ठीक ही है। पुष्पांतक और पुष्पवर्षमें किंचित् ही बाह्य भेद है, वरन् भाव दोनोंहीका एक है। अतएव उनको एक स्थान मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अब रहा सिर्फ मणिकांत पर्वत जिसमें अनेक प्रकारकी मणियां लगी हुई थीं। पुष्पांतक अथवा पुष्पवर्षसे ऊपर चलकर इथ्यूपियामें जहां शंखनागा

१-पूर्व० पृ० ५६। २-पूर्व० पृ० ६४।

(आजकलकी मारेब Mareb) नदी नील (Nile) में आकर मिलती है, वहांपर समीपवर्ती एक 'द्युतिमान' पर्वत बतलाया गया है।[१] इसमें मणियां धातु आदि मिलते थे, इस कारण मणियोंका प्रकाशरूप यह पर्वत 'द्युतिमान' कहलाता था। अतएव द्युतिमान और मणिकांत पर्वत एक ही हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसप्रकार पाताललंका आजकलके अबेसिनिया और इथ्यूपिया प्रदेश ही होना चाहिये। इथ्यूपियामें जैन मुनियोंका अस्तित्व ग्रीक लोग 'जैम्नोसूफिट्स' के रूपमें बतलाते हैं।[२] जैम्नोसूफिट्स जैन मुनि ही होते हैं यह प्रगट ही है।[३] अस्तु; यहांपर यह संशय भी नहीं रहती कि अबेसिनिया और इथ्यूपियामें जैनधर्म कहांसे आया? यद्यपि जैनशास्त्र तो तमाम आर्यखण्डमें जिसमें आजकलकी सारी पृथ्वी आजाती है एक समय जैनधर्मको फैला हुआ बतलाते हैं। पाताललंकामें जैन मंदिरोंका अस्तित्व शास्त्रोंमें कहा गया है।

अबेसिनिया और इथ्यूपियाके निवासी बहुत प्राचीन जातिके और उनका धर्म भी प्राचीनतम माना गया है;[४] एवं उनकी भाषा और लिपि करीब २ प्राचीन संस्कृत लिपिके समान ही थी।[५] तथापि उनका संबन्ध यादवोंसे भी था, यह बताया गया है। हिन्दू

१–पूर्व० पृ० १०६। २–सर विलियम जोन्स इन जैम्नोसूफिट्सको बौद्ध धर्मानुयायी बताते हैं (पूर्व० पृ० ६), किन्तु उस प्राचीनकालमें बौद्धोंका अस्तित्व भारतके बाहर मिलना कठिन है, क्योंकि बौद्ध धर्मका विदेशोंमें प्रचार सम्राट अशोक द्वारा ही हुआ था। तिसपर सर विलियमके जमानेमें जैन और बौद्ध एक समझे जाते थे। इसलिये यहां बौद्धोंसे मतलब जैन ही समझना चाहिए। ३–इन्साइक्लोपेडिया ब्रेटिनिका भाग ३५। ४–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १३९। ५–पूर्व० पृ० ४–५।

शास्त्रोंके अनुसार अबेसिनिया और इथ्यूपिया बहिर कुशद्वीपमें आ जाते हैं।[1] इस कुशद्वीपमें वह एक कुशस्तंभ और दैत्य, दानव, देव, गंधर्व, यक्ष, रक्ष और मनुष्योंका निवास बतलाते हैं।[2] मनुष्योंमें चतुर्वर्ण व्यवस्था भी थी, यह भी वह कहते हैं।[3] इसी कुशद्वीपमें यादवोंका आगमन कृष्णके बाल्यकालमें कंसके भयके कारण बताया गया है। कहा गया है कि वे भारतवर्षसे निकलकर अबेसिनियाके पहाड़ोंपर आकर रहने लगे थे। उनके नेता यादवेन्द्र कहलाते थे। सो उन्हींकी अपेक्षा यह पर्वत भी इसी नामसे प्रसिद्ध हुये थे।[4] प्राचीन इथ्यूपियन निवासियोंके स्वभाव आदि इन यादवों जैसे ही थे और ग्रीक भूगोलवेत्ता भी उनका आगमन वहां भारतवर्षसे हुआ बतलाते हैं।[5] जैन हरिवंशपुराणके कथनसे भी इस व्याख्याकी पुष्टि होती है। यद्यपि वहां कृष्णसे बहुत पहले उनका आगमन यहां बतलाया गया है। वहां कहा गया है कि २१ वें तीर्थंकर श्री नमिनाथजीके तीर्थमें यदुवंशी राजा शूर थे। इन्होंने अपना मथुराका राज्य तो अपने छोटे भाई सुवीरको दे दिया था और स्वयंने कुशद्य देशमें परमरमणीय एक शौर्यपुर नामक नगर बसाया था।[6] आजकल शौर्यपुर मथुराके पास ही माना जाता है; परंतु यह ठीक नहीं है क्योंकि मथुराके आसपासका देश 'कुशद्य' नामसे कभी प्रख्यात् नहीं था। भारतमें कुशस्थल देशको कौशल किन्हीं शास्त्रोंमें बताया हुआ मिलता है,[7] किन्तु वहांभी शौर्यपुर

१-पूर्व पृ० ५५। २-३-विष्णुपुराण २-४ ३५-४४। ४-५-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ८७। ६-हरिवंशपुराण पृ० २०४। ७-भावदेवसूरि, पार्श्वनाथचरित्र सर्ग ५ में कुशस्थलके राजा प्रसेन-

नहीं होसक्ता; क्योंकि शौर्यपुरके निकट उद्यानमें एक गंधमादन पर्वत बतलाया है; जहांपर सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराजको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी।[1] गंधमादन पर्वत हिमालयका पश्चिमी भाग माना जाता है;[2] परंतु उसका कोई निकटवर्ती प्रदेश भी कुशद्यदेश नहीं कहलाता है। इसके अतिरिक्त गंधमादन पर्वतका उल्लेख द्वारिकाके निकट रूपमें भी हुआ है; परंतु वहां जैनाचार्य बरड़ो पर्वत श्रेणीको ही गंधमादन मानकर वह उल्लेख करते हैं।[3] हिन्दू शास्त्र द्वारिका-को कुशस्थलीमें बतलाते हैं;[4] परंतु यहां भी वही आपत्ति अगाड़ी आती है कि द्वारिकाके निकट उद्यानमें गंधमादन पर्वत नहीं था। अतएव यह कुशद्यदेश उपरोक्त कुशद्वीप अर्थात् अवेसिनिया ही होना चाहिये; जहांपर यादवोंका आना प्रमाणित है। हिन्दुओंके माने हुए कुशद्वीपमें गंधमादन पर्वतका उल्लेख भी मिलता है।[5] इसलिये अबेसिनियाको ही कुशद्यदेश समझना ठीक जंचता है। इस अवस्थामें पाताल-लंका और कुशद्यदेश एक ही स्थानपर परिचित होते हैं। इसका अर्थ यह होसक्ता है कि पाताल-लंका भी उपरान्त कुशद्यदेशके नामसे प्रसिद्ध होगई थी जैसे कि हिन्दूशास्त्र पाताल-लंकाका उल्लेख कहीं करते ही नहीं है और अबेसिनिया इथ्यूपिया एवं न्यूबियाके सारे प्रदेशको कुशद्वीपमें गर्भित करते हैं; परंतु रावणके समयमें जैन ग्रन्थकार अबेसिनिया और इथ्यूपियाको पाताल-लंकाके

जित बतलाये है, पर यह राजा कौशलके थे। इसलिए यहां कुशस्थलसे भाव काशलके ही प्रगट होते हैं।

१–हरिवंशपुराण पृ० २०५। २–दी इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली भा० १ पृ० १३५। ३–नेमिनिर्वाणकाव्य ५३–६१। ४–महाभारत सभा० १३ अ०। ५–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १६७.

नामसे और न्यूबियाको कुशस्थलकी संज्ञासे उल्लेख करते प्रतीत होते हैं। यह भी संभव है कि जैन शास्त्रकारोंके निकट अबेसिनिया कुशद्वीप रहा हो और इथ्यूपिया पाताल लंका क्योंकि इथ्यूपियामें ही पाताल-लंकाके पर्वत व वन आदि मिलते हैं। अस्तु,

उस समय कुशस्थलमें वैदिक धर्मके क्रियाकाण्ड यज्ञादिका प्रचार था, यह भी पद्मपुराणमें स्वीकार किया गया है।[1] अतएव यह स्पष्ट है कि अबेसिनियामें यादव लोग भी पहुंचे थे; जिनमेंसे उपरांत भगवान नेमिनाथका जन्म हुआ था और जो जैनशास्त्रोंमें जैनधर्मानुयायी बताये गए हैं। अबेसिनिया ही कुशद्यदेश है, इसका समर्थन यादवेन्द्र शूरसेनके पौत्र वसुदेवके वर्णनसे भी होता है। जब वसुदेव कुशद्यदेशके शौर्यपुरसे निकलकर अंगदेशके चम्पा नगरमें जाकर विद्याधरके विमानसे गिरे थे, तब उन्होंने अचंभेमें पड़कर लोगोंसे पूछा था कि यह कौनसा देश है? यदि मथुराके पास ही शौर्यपुर होता तो अंगदेश और चम्पाका परिचय वसुदेवको जरूर होना चाहिये था और वहांपर पहुंचनेपर उन्हें विस्मित होना आवश्यक न था। साथ ही शौर्यपुरके गंधमादन पर्वतपर जो जैन मुनिको केवलज्ञान होना बतलाया गया है, वह भी ठीक है, क्योंकि अबेसिनियामें जैन मुनि पहले विचरते थे, यह बात ग्रीक लोग बतलाते हैं। इस दशामें अबेसिनियाको ही पाताल-लंका मानना ठीक-जंचता है। उसके शब्दार्थ भी इसी व्याख्याका समर्थन करते हैं; क्योंकि लंका (मिश्र) से नीचे (अधो=पाताल) की ओर ही अबेसिनिया थी।

यदि लंका मिश्र और पाताल-लंका अबेसिनिया एवं

१-पद्मपुराण पृ० ६४२।

इथ्यूपियामें थे, तो हनूमान और रामचंद्रजीको जो वहां जाते हुये मार्गमें देश पड़े थे, वह भी यथावत आज मिश्र जाते हुये मिल जाना चाहिये। पाताल लंकामें रावणके बहनोई खरदूषणको मारकर रामचन्द्र वहां विद्याधर विराधितके कहने और राक्षसवंशके मित्र किष्किंधापुरके वानरवंशियों–सुग्रीव आदिके भयसे चले गये थे, परंतु वह वहां ज्यादा दिन नहीं ठहरे थे और वापिस किष्कन्धापुर सुग्रीवकी सहायता करने चले आये थे। उनका वहां अधिक दिन ठहरना भी उचित नहीं था; क्योंकि आखिर वहां रावणका भय अधिक था और जबकि रावणको राम–लक्ष्मणके पाताल लंकामें होनेका पता चल गया था, तब उनका पाताल–लंकाकी ओरसे आक्रमण करना उचित नहीं था। सुतरां मालूम तो यह पड़ता है कि रामचंद्रजीके किष्किन्धा चले आनेके अन्तरालमें रावणने अपने सन्ध्याकार आदि देशोंके राक्षसवंशियोंपर संदेशा भिजवा दिया था। इसकारण वे हंसद्वीपसे अगाड़ी बढ़ने ही नहीं पाये थे। हतभाग्यसे हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे इन देशोंका पता चला सकें जिनमें राक्षसवंशज रहते थे। हां, इनमेंसे रत्नद्वीपका पता अवश्य ही चलता है और यह आजकलकी लंका ही है, यह हम देख चुके हैं। यह हो सक्ता है कि यह सन्ध्याकार आदि प्रदेश उस पृथ्वीपर अवस्थित हों जो अब समुद्रमें डूब गई है; क्योंकि यह तो विदित ही है कि अफ्रिकासे भारतके उत्तर–पश्चिमीय तट-तक एक समय पृथ्वी ही थी।[1] अस्तु; अब यहांपर पहले हनूमानजीके लंका आनेके मार्गपर एक दृष्टि डाल लेना उचित है।

१. ऐशियाटिक रिसर्चेज़ भाग ३ पृ० ५२।

हनूमानजीको किष्किन्धासे चलनेपर पहले पर्वतपर अवस्थित राजा महेन्द्रका नगर मिला था। महेन्द्रपुर और पर्वत दक्षिण भारतमें ही होना चाहिये, क्योंकि हनूमान दक्षिणकी ओर चले आये थे। आजकल भी दक्षिण भारतके बिल्कुल छोरपर महेन्द्र पर्वतका अस्तित्व हमें मिलता है।[1] इस अवस्थामें महेन्द्रपुर इसी पर्वतपर अवस्थित होना चाहिये। राजा महेन्द्र अपने नगरकी अपेक्षा ही महेन्द्र कहलाता होगा। महेन्द्रपुरसे राजा महेन्द्रको किष्किन्धापुर पहुंचाकर विमानपर बैठकर अगाड़ी चलनेपर उनको दधिमुख नामक द्वीप मिला था; जिसमें दधिमुख नगर था। यहांके वनमें उन्होंने दो चारण मुनियोंको अग्निमें जलते हुए बचाया था। दधिमुख एक प्रसिद्ध शाक्य (Scythic) जाति प्रमाणित हुई है और यह 'दहय' (Dahae) कहलाती एवं जक्षत्रस नदी (Jaxatres) के ऊपरी भागके किनारोंपर रहती थी।[2] इन्हींकी अपेक्षा तमाम मध्य ऐशिया 'दहय-देश' के नामसे विख्यात् हुआ था।[3] इस अवस्थामें दधिमुखद्वीप समस्त मध्य ऐशिया होसक्ती है और उसमें दधिमुख नगर दहयजातिका निवास स्थान होसक्ता है। यहांका राजा गन्धर्व पद्मपुराणमें बताया गया है और यह नाम जाति अपेक्षा प्रकट होता है। मध्य ऐशिया अथवा रसातलमें गन्धर्व जाति भी रहती थी, यह प्रगट ही है।[4] अतएव दधिमुख नगर और उसका राजा आजकलके ईरान (Persia) की सरहदपर कहीं होना चाहिये। दधिमुखद्वीपके अगाड़ी हनूमान लंकाकी सीमापर पहुंच गये थे।

१. इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली भाग २ पृ० ३४९। २-३. पूर्व० भाग १ पृ० ४६०. ४. पूर्व० भाग २ पृ० २४६.

वहांपर कोटरक्षक वज्रमुखकी कन्याको परास्त करके इनने उसके साथ विवाह किया था। यहांपर जो कन्यासे युद्ध करनेका उल्लेख है, वह शायद 'स्त्रीराज्य' की स्त्री शासकोंका बोधक हो; क्योंकि मिश्र, न्यू बेया आदिके किनारेपर ही इस स्त्री-राज्यको अवस्थित खयाल किया गया है और फिर हनूमान लंकामें पहुंच जाते हैं। यहां हम पहले हनूमानको दक्षिण भारतके छोरसे समरकन्द बगदाद आदिकी ओर चलकर मध्य ऐशियाको लांधकर लंका पहुंचते अर्थात् मिश्रमें दाखिल होते पाते हैं और यह है भी ठीक। इस रास्तेमें मध्य-ऐशियाका आना जरूरी है। इस तरह भी लंकाका मिश्रमें होना ठीक जंचता है।

अब रामचंद्रजीकी लंकापर चढ़ाई ले लीजिये। पहले ही उन्हें बेलंधरपुर पहुंचा बतलाया गया है। पद्मपुराणमें देशोंके नामको हम नगरोंके रूपमें प्रायः व्यवहृत हुआ पाते हैं। उदाहरणके तौरपर रत्नद्वीप एक नगर बताया है, परन्तु वह वास्तवमें एक देश था क्योंकि वह आजकलकी लंका ही है, यह हम देख चुके हैं। इसलिये बेलंधरपुर यदि कोई देश हो तो आश्चर्य नहीं! मध्य-ऐशियामें हिन्दू शास्त्रोंका बितल प्रदेश 'आब-तेले' रूपमें बतलाया गया है।[1] और आब-तेलेका भाव उन हूण लोगोंसे है जो ऑक्सस (Oxus) नदीके किनारोंपर बसते थे[2]। बेलंधरपुर आवतेलेके हूणोंका निवासस्थान ही होसक्ता है क्योंकि बेलंधरपुरके शब्दार्थ यह होसक्ते हैं कि बेल (=आब-बेले-जाति)को

१. पूर्व० भाग १ पृ० १३५. २ दी इंडियन हिस्टोरीकल क्वारटर्ली भाग १ पृ० १३५

धारण करनेवाला पुर । तिसपर वहांके राजाका नाम जो समुद्र बताया है, वह भी इसी बातका द्योतक है । नदीके किनारेपर बसनेवालोंका राजा समुद्ररूपमें उल्लेखित किया गया प्रतीत होता है। इस अपेक्षा बेलंधरपुर मध्यऐशियामें बृहद् पामीर (Great Pamir) पर्वतके निकट अवस्थित प्रतीत होता है[१] । इस हालतमें रामचन्द्रजी बेहद उत्तरमें चले गये मालूम होते हैं किन्तु उनका इस तरह घूमकर जाना राजनीतिकी दृष्टिसे ठीक ही था; क्योंकि दक्षिणभारतके अगाड़ी रत्नद्वीपसे तो रावणके वंशज ही रहते थे। इसलिये घूमकर ठीक लंकापर जा निकलनेसे उनको बीचमें युद्धमें अटका रहना नहीं पड़ा था । उधरसे जानेमें एक और बात यह थी कि इन प्रदेशोंकी योद्धा जातियोंको भी वे अपना सहायक बना सके थे । तिसपर गरुडेन्द्र उनका सहायक मित्र बतलाया गया है और उपरान्त उसने उनकी सहायताको रणक्षेत्रमें सिंहवाहन और गरुडवाहन देव भेजे थे । इन गरुड़के पंखोंकी पवन क्षीरसागरके जलको क्षोभरूप करनेवाली और रावणके सहायक सर्पोंको भगानेवाले बताई गई है[२] । इस अवस्थामें यह गरुडवाहन कैसपियन समुद्रके निकट बसनेवाले शाक्य (Scythian) जातिके योद्धा होना चाहिये, क्योंकि इसी समुद्रको क्षीरसागर भी पहले कहते थे ।[३] यद्यपि जैन शास्त्रमें गरुडेन्द्र देवयोनिका माना गया है अतएव रामचंद्रजीका इधर होकर जाना बहुत ही सूझका काम था। बेलंधरपुरसे आगे वह सुबेल पर्वतपरके सुबेलनगरमें आये कहे गये

१ पूर्व० भा० १ पृ० १३६. २ पद्मपुराण पृ० ६५१. ३ दी इंडि० हिस्टा० क्वारटर्ली भाग २ पृ० ३५.

हैं। यह प्रदेश हिन्दू शास्त्रोंका सु-तल होसक्ता है, यह सु-जातियों (Kidarites or Sutribes) का निवासस्थान होनेके रूपमें इस नामसे विख्यात था[१]। इसमें आजकलका बलख भी था। यहां सुवेल विद्याधरको जीतनेका उल्लेख पद्मपुराण करता ही है। अतएव सुवेलका सु-तल होना ही ठीक जंचता है। उपरांत रामचन्द्रजीने अक्षयवनमें डेरा डाले थे और वहां रात पूरी करके हंसद्वीपमें हंसपुरके राजा हंसरथको जीता था। यहीं अगाड़ी रणक्षेत्र माढ़कर वह डट गये थे। अक्षयवन संभवतः जक्षत्रस (Jaxatres) नदीके आसपासका वन हो और इसके पास ही सुपर्ण आदि पक्षियोंका निवासस्थान था[२], यह विदित ही है; यद्यपि पक्षीका भाव यहां जातियोंसे ही है। अस्तु, हंस भी एक पक्षीका नाम है, इसलिये हंसद्वीप और हंसरथसे भाव पक्षियोंकी जातिसे होसक्ता है। इसके अगाड़ी जो लंकाकी सीमा आगई ख्याल की गई है वह भी ठीक है, क्योंकि राक्षसवंशजोंका एक देश हरि भी जैन पद्मपुराणमें बताया गया है[३]। आर्यबीज अथवा आर्यना (Aeriana) प्रदेश बाइबिलमें 'हर' नामसे परिचित हुआ है।[४] तथापि यहांपर हूण अथवा तातार जातियां भी रहतीं थीं, जिनमें ही राक्षसवंशी भी आजकल माने गये हैं।[५] इस हालतमें हंसद्वीपके अगाड़ी राक्षसोंका हर प्रदेश आजाता था। इसलिये रामचन्द्रजीका विरोध वहींसे होने लगा होगा, जिसके कारण वह वहींपर रणक्षेत्र रचकर डट गये थे। अतएव इस तरह भी लंकाका मिश्रमें होना ही ठीक जंचता है।

---

१ पूर्व० भाग १ पृ० ४५६. २ पूर्व० भाग २ पृ० २४३. ३ पद्मपुराण पृ० ६८ और ७७. ४ दी इंडि० हिस्टा० क्वारटर्ली भाग १ पृ० १३१ ५ पूर्व० भाग १ पृ० ४६२.

जैन पद्मपुराणमें कैलाश और वैताढ्य पर्वतमें स्थित अर्धबरबर-देशके म्लेच्छोंका भारतपर आक्रमण करना लिखा है तथापि श्यामसुख, कर्दम, ताम्र आदि वर्णके लोगोंको कालिन्द्रीनामा नदीके किनारे बसा बतलाया है। यह अर्धबरबर प्रदेश ऐशियाटिक रसियाका बीचका भाग होसक्ता है। इसके राजाकी अध्यक्षतामें श्याममुख आदि यहां आए थे। यह ज्ञात है कि श्याममुखोंका एक अलग प्रदेश काली अर्थात् नील (Nile) नदीके किनारेपर ही था[१]। इसी तरह कर्दमवर्णके लोगोंका कर्दमस्थान[२] और ताम्रवर्णके लोगोंका तमस–स्थान भी वहीं बतलाये गये हैं,[३] तथापि रावणने जो अपने आसपासके राजाओंके साथ दिग्विजयके लिये पयान किया था तो उस समय उसके साथ हिडम्ब, हैहिडिम्ब विकट, त्रिजट, हयमाकोट, सुजट, टंक आदि लोग थे। इनमेंके हिडम्ब और हैहिडिम्ब संभवतः हैहय (Haihayas) होंगे, जिन्होंने उत्तर कुशद्वीपके राजाओंके साथ गौतमऋषिकी सहायता करके जमदग्निको मारा था।[४] यह हैहय ईरानी (Persian) अनुमान किये गये हैं।[५] त्रिजट सुजट और विकट शंखद्वीप (मिश्र) के जटापर्ट[६] और कुटितकेशैं[७] नामक जातियोंके राजा होसक्ते हैं। हयमाकोट हेमकूट पर्वत जो शंखद्वीपमें था उसके निकटवासी मनुष्योंके राजा प्रतीत होते हैं और टंक टक्कका अपभ्रंश मालूम होता है जो तक्षकनागके वंशज थे।[९] इसलिए टंक नाग जातिके

१ ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५६. २ पूर्व० पृ० ९६ ३ पूर्व० पृ० ९२ ४–५ ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ११६. ६–पूर्व पृ० ११५. ७–पूर्व पृ० ५६. ८–पूर्व० पृ० ५६. ९–राजपूतानेका इतिहास प्रथम भाग पृ० २३०

हूण लोग होसक्ते हैं; और जैन पद्मपुराणमें रावणके पक्षमें नागोंका होना स्वीकार किया गया है जो गरुडवाहनके आनेसे भाग गये लिखे हैं। खरदूषणके साथ त्रिपुर, मलय, हेमपाल, कोल आदि राजा थे और यह भी रावणके साथ दिग्विजयको गये थे। रावण पाताललंका होता हुआ इन राजाओंको साथ लेकर नर्मदा तटपर पहुंचा था। यह राजा मलयद्वीप (Maldiva) जो पहले बहुत विस्तृत था और भारतसे लगा हुआ था,[१] वहींके विविध देशोंके राजा मालूम देते हैं। वहांके त्रिकूट पर्वतके निकटवाले देशके राजा त्रिपुर, सोनेकी कानोंवाले देशके अधिपति हेमपाल और मलयदेशके राजा मलय एवं कोल जातिके नृप कोल कहे जासक्ते हैं। नर्मदाके तटपर माहिष्मती नगरीके राजा सहस्त्ररश्मिसे जो वहांपर युद्ध हुआ था, यह आज भी मध्यप्रांतमें जनश्रुतिरूपसे प्रचलित है।[२] इसतरह इस विवरणसे भी रावणका निवासस्थान राक्षसद्वीप और लंका मिश्रमें प्रमाणित होते हैं। यह पृथ्वीरेखा (Equator) के निकट भी थे, जैसा कि अन्य शास्त्रोंमें कहा गया है।[३]

किन्हीं विद्वानोंका अनुमान है कि मध्य भारतमें अमरकण्टक पहाड़की एक चोटीपर ही रावणकी लंका थी, अन्योंका कहना है कि आजकलकी लंका ही लंका है और डा० जैकोबी उसे आसाममें ख्याल करते हैं।[४] हालमें एक अन्य विद्वान्ने लंकाको मलयद्वीप (Maldiva Islands) में बताया है।[५] उपरोक्त

१–दी० इन्डि० हिस्टॉ० क्वार्टली भाग २ पृ० ३४८. २–मध्यप्रांतके प्राचीन जैन स्मार्क, भूमिका पृ० ६. ३–भुवनकोष १७. ४–५–इन्डि० हिस्टॉ० क्वार० भाग २ पृ० ३४५.

वर्णनको देखते हुये इन व्याख्यायोंपर सहसा विश्वास नहीं किया जासक्ता ? मध्य भारत और आसाममें लंकाका अस्तित्व मानना बिल्कुल भूल भरा है। आज कलकी लंका भी रावणकी लंका नहीं है, यह हम पहले देख आये हैं। तथापि हिन्दूशास्त्रोंसे भी इस लंकाका सिंहलद्वीप होना और इसके अतिरिक्त एक दूसरी लंका होना सिद्ध है।[१] अब केवल मलयद्वीपको राक्षसद्वीप और लंका बतलाना विचारणीय है। मलयद्वीपमें भी त्रिकूट पर्वत और सोनेकी कानें होनेके कारण उसको रावणकी लंका ख्याल किया गया है, किन्तु यदि वही राक्षसद्वीप था तो फिर उसका नाम हिन्दूशास्त्रोंमें मलयद्वीप क्यों रक्खा गया ? तिसपर स्वयं हिन्दूशास्त्रोंसे उसका लंका होना बाधित है। रामायणमें कहा गया है कि रावण वरुणके देशसे बालीको छुड़ाने आया था।[२] वरुणका देश पश्चिममें यूरोपके नीचे कैस्पियन समुद्रके निकट था और बाली मध्य ऐशियामें बलिखनगरमें कैद रक्खे गये माने जाते हैं।[४] इस अवस्थामें रावणकी लंका मिश्रमें होना ही ठीक है। हिन्दू पुराणोंमें शंखद्वीपमें म्लेच्छोंके साथ राक्षसोंको रहते बताया गया है और कहा गया है कि वहां कोई भी ब्राह्मण नहीं था इस कारण प्रमोदके राजाके अनुग्रहसे पोथिऋषिने वहां वैदिक धर्मका प्रचार किया था। ब्रह्माण्ड और स्कन्दपुराणमें जो कथा राक्षसस्थानकी उत्पत्तिमें दी हुई है, वह भी उसे मिश्रके बरबरदेशके निकट बतलाती है[६] और

१-पूर्व० पृ० ३४६-३४७ २-रामायण उत्तरकांड २३-२४ ३-इन्डि० हिस्टॉ० क्वार० भाग २ पृ० २४० ४-पूर्व० भाग १ पृ० ४५६ ५-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १०० ६-पूर्व० पृ० १८२-१८५

इसका समर्थन ग्रीक भूगोलवेत्ता भी करते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। तथापि गणितशास्त्र 'गोलाध्याय' के कर्त्ता भास्कराचार्य (सन् १११५ ई०) का निम्न श्लोक भी[1] हमारे ही कथनका समर्थन करता है:—

'लङ्काकुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमकपट्टनं च।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्येऽथ यामे बड़वानलश्च॥'

यहां लङ्काके मध्य पूर्वमें यमकोटिस्थान और पश्चिममें रोमकपट्टन बतलाये हैं। इनसे अधःभागमें सिद्धपुर—सुमेरु बतलाया और दक्षिणमें बड़वानलका होना लिखा है। अब यदि हम मिश्रमें ही लंका मान लेते हैं तो यमकोटि, जो संभवतः यमका स्थान ही है, वह लंकाके मध्यपूर्वमें मिल जाता है। हिंदुओंके पद्म और भागवतपुराणमें जो कृष्णके गुरु काश्यपकी स्त्रीकी खोजमें कृष्णके जानेकी कथा है उसमें कृष्णके वराहद्वीप (यूरोप) की ओर जानेपर वरुणके कहनेसे वह वहांसे नीचे उतरकर यमपुरीमें पहुंचे थे।[2] कृष्ण भारतसे उधर गये थे; इसलिये मध्य एशिया आदि प्रदेश तो वह लांघ गए थे और इस अवस्थामें यूरोपकी सीमासे उनका नीचेको आगमन अफ्रीकामें ही होसक्ता है। इसलिए यमपुरी लंका (बरबर स्थान—मिश्र) के मध्यपूर्वमें होसक्ती है। आगे रोमकपट्टन जो पश्चिममें बतलाई गई है वह भी ठीक है। यह रोमकपट्टन आजकलका रोम (Rome) है और यह उत्तर पश्चिममें स्थित बराहद्वीप (यूरोप) में था।[3] इसलिये यह भी ठीक मिल जाता है। अधो-

१—भुवनकोष १७ २—ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १७९
३—पूर्व० पृ० २३१

भागमें सिद्धपुर और सुमेरुपर्वत बतलाये गये हैं। हिन्दुओंका यह सुमेरुपर्वत आजकलका हिंदूकुश पहाड़ है[1] और इसके पास शायद कहीं सिद्धपुर होगा और यह मिश्रसे नीचेको उतरकर ही है। इसलिये यह भी भास्कराचार्यके कथनानुसार ठीक मिलते हैं। अब रहा सिर्फ बड़वानल अर्थात् पृथ्वीकी मध्य रेखा (Equator) सो मिश्रसे दक्षिणकी ओर अफ्रीकामें होकर यह निकाला ही है। इस दशामें भास्कराचार्यके अनुसार भी मिश्र ही लंका प्रमाणित होती है।

इन बातोंको देखते हुये लंकाको मलयद्वीपमें बतलाना ठीक नहीं है। कमसे कम जैनशास्त्रोंके अनुसार तो उसका अस्तित्व मिश्रदेशमें ही प्रमाणित होता है। मलयद्वीप तो उससे अलग था, यह हमारे उपरोक्त वर्णनसे प्रकट है। अस्तु;

प्राचीनकालमें मिश्रमें जैनधर्मका अस्तित्व होना भी प्रमाणित है। एक महाशयने वहांके एक राजाको जैनधर्मानुयायी लिखा भी था।[2] वहांके प्राचीन धर्मका जो थोड़ा बहुत ज्ञान हमें मिलता है उससे भी सिद्ध होता है कि यहां पहले जैनधर्म अवश्य रहा होगा। सबसे मुख्य बातें जो मतमतान्तरोंमें प्रचलित हैं वह आत्मा और परमात्माके स्वरूप सम्बन्धमें हैं। सौभाग्यसे इन विषयोंमें मिश्रवासियोंका प्राचीन विश्वास करीब २ जैनधर्मके समान था। प्राचीन मिश्रवासी जैनियोंके समान ही परमात्माको सृष्टिका कर्त्ता-हर्ता नहीं मानते थे।[3] उसे वे संपूर्णतः पूर्ण और सुखी (Infinitely perfect and happy) मानते थे और वह

१–इन्डि० हि० क्वाटर्ली भाग १ पृ० १३५ २–अग्रवाल इतिहास पृ० ३–मिस्ट्रीज ऑफ फ्री० मैसनरी पृ० २७१

केवल एक ही स्वतंत्र व्यक्ति नहीं था अर्थात् उनके निकट अनेक परमात्मा थे।[१] मिश्रवासी आत्माका अस्तित्व भी स्वीकार करते थे और उसका पशुयोनिमें होना भी मानते थे।[२] उसके अमरपनेमें भी विश्वास रखते थे। यह सब मान्यतायें बिलकुल जैनधर्मके समान हैं। भगवान मुनिसुव्रतनाथ और फिर भगवान नमिनाथके तीर्थोंके अन्तरालमें यहां जैनधर्मका विशेष प्रचार था, यह जैन-शास्त्रोंसे प्रकट है। तथापि यूनानवासियोंकी साक्षीसे मिश्रके निकटवर्ती अवेसिनिया और इथ्यूपिया प्रदेशोंमें जैन मुनियोंका अस्तित्व आजसे करीब तीन हजार वर्ष पहिले भी सिद्ध होता है।[३] इस दशामें उक्त सादृश्यताओंको ध्यानमें रखते हुये यदि यह कहा जावे कि मूलमें तो मिश्रवासियोंका धर्म जैनधर्म ही था, परन्तु उपरांत अलंकारवादके जमानेकी लहरमें उसका रूप विकृत होगया था तो कोई अत्युक्ति नहीं है। यह विदित ही है कि मिश्र, मध्य एशिया आदि देशोंमें अलंकृत भाषा और गुप्तवाद (Allegory)का प्रचार होगया था और धर्मकी शिक्षा इसी गुप्तवादमें दी जाती थी।[४] मिश्रवासियोंकी अलंकृत भाषा और उनकी गुप्त बातें (Mystries) बहु प्राचीन हैं।[५] इन गुप्त बातोंको जाननेके अधिकारी मिश्रमें पुरोहित और उनके कृपापात्र ही होते थे।[६] यह पुरोहित बड़े ही सादा मिजाज़ और संयमी होते थे।[७] यह साधारण लोगोंको ऐसी शिक्षा देते थे जिससे उनको अपने परभव और पुण्य-पापका भय

१-मिस्ट्रीज ऑफ फ्री मैसनरी पृ० २७१ २-दी स्टोरी ऑफ मैन पृ० १८७ ३-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ६ ४-सपलीमेन्ट टू कान्फल्यून्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ० १-६ ५-दी स्टोरी ऑफ मैन पृ० १७३ ६-७-पूर्व० पृ० १९१

रहे। ज्योनारोंके समय भी इसी शिक्षाका प्रबंध था।[1] उस आमोद प्रमोदके समय भी लोगोंको परभवकी याद दिला दी जाती थी। यह पुरोहित मच्छी, शोरवा, मटर, मूली, शलजम आदि भी नहीं खाते थे; और उनके भोजनमें शाकाहारकी प्रधानता रहती थी। यद्यपि मांससे उन्हें परहेज था यह विदित नहीं होता![2] यह शायद उपरान्त क्षेत्र और कालके प्रभाव अनुसार मांस ग्रहण करने भी लगे थे; यद्यपि मूल धर्मके खास नियमोंके पालनमें ही उसकी पूर्ति समझ ली होगी। मच्छी शोरवाका परहेज मांस त्यागका द्योतक है।[3] मटर द्विदल, और मूली शलजम जमींकन्दके त्यागका परिचायक है।[4] यूनानी लोग, जो मिश्रवासियोंके ही शिष्य थे,[5] सर्व प्रकारके द्विदल–दाल (Beans) के त्यागी होते थे।[6] जैन शास्त्रोंमें द्विदलका खाना माना है, दालको दूध या दहीके साथ मिलाकर खानेसे अनन्ते सूक्ष्म जीव वहां उत्पन्न होजाते हैं। इसीलिए उनको खाना मना है। मिश्र और यूनानवासियोंको जो दालके ग्रहण करनेकी मनाई है, वह इसी भावको लक्ष्यकर है। यूनानवासियोंने जैन मुनियोंसे शिक्षा ग्रहण की थी[7] यह इतिहास सिद्ध बात है। भृगुकच्छसंघके एक श्रमणाचार्य नामक जैन मुनिकी सल्लेखनाका उल्लेख करनेवाला लेख उनके समाधिस्थानपर आज भी अथेन्समें मौजूद है।[8] यूनानियोंकी धार्मिक मान्यतायें भी जैनधर्मके समान ही हैं।[9] और वे मिश्रवासियोंके शिष्य थे,

१–पूर्व० पृ० २१२ २–पूर्व० पृ० १९१ ३–४–पूर्व प्रमाण। ५–पूर्व पृ० १८७ ६–अडेन्डा टू कान्फ्लूयन्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ० २ ७–पूर्व० पृ० ३ और हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृ० ४२ ८१६–इन्डि० हिस्टा० क्वार्टर्ली भाग २ पृ० २९३ ९–'वीर' भाग ५.

इस कारण मिश्रवासियोंकी मान्यतायें भी जैनधर्मके अनुसार ही होना चाहिये। तब ही यह संभव है कि उनके शिष्य यूनानवासी जैनधर्मकी शिक्षा ग्रहण करनेको तत्पर होते। सौभाग्यसे इसी व्याख्याके अनुरूपमें हम मिश्रवासियोंकी मान्यताओंको जैनधर्मके समान ही प्रायः पाते हैं। उनके निकट पशुओंकी रक्षा करना बड़ा आवश्यक कर्म था। सुतरां वे सर्प, मगरमच्छ, बिल्ली, कुत्ता, लंगूर आदि जानवरोंको पूज्य दृष्टिसे देखते थे।[1] सर्प तो उनके निकट बुद्धि और स्वास्थ्य (Wisdom & health) के चिह्नरूपमें स्वीकृत है।[2] पशुओंके प्राणोंका मूल्य समझकर ही वे चमड़ेके जूते तक नहीं पहनते थे वृक्षोंके बल्कलसे ही वे अपने पैरोंकी रक्षा करते थे।[3] उनके पूज्य देवकी मान्यता भी जैनियोंके समान थी। मूलमें उनके तीन देवता—ओसिरिस, इसिस और होरस (Osiris Isis & Horus) मुख्य थे।[4] ओसिरिस और इसिससे वे होरसकी उत्पत्ति मानते थे। ओसिरिसका चिन्ह वे बैल मानते थे, जो धर्मका द्योतक है।[5] इन तीनों देवोंके अतिरिक्त जैनधर्मके समान इतर देवताओं नगररक्षक आदिको भी वे मानते थे।[6] इन तीन देवताओंकी कथा गुप्तवादमें गुंथी हुई मिलती है, जिसका भाव यही है कि ओसिरिस जो शुद्धात्मा है, वह सेठ—सांसारिक मायाके द्वारा नष्ट किया जाकर अपने खास अस्तित्वको प्रायः खो बैठता है और खंडरूपमें नील नदीमें बहा फिरता है किन्तु

१—दी स्टोरी ऑफ मैन पृ० १८६ २—पूर्व० पृ० १६९ ३—अडेन्डा टू कॉन्फ्लूयन्स ऑफ ऑपोज़िट्स पृ० २ ४-५-६—दी स्टोरी ऑफ मैन पृ० १८६

इसिस उसकी लाशको ढूंढ निकालती है और ओसिरिसके पुत्र होरसकी सहायतासे उसे पुनः जीवित करके परमात्मपदमें पधरवा देती है, जहां वह अमर जीवनको प्राप्त होता है।[1] इसिस ओसिरिसको ढूंढती हुई अपने पर्यटनमें सब कठिनाइयों आदिका मुकाबिला करती है और इसी लिए उसने गुप्तवादको जन्म दिया है कि उसके चित्रपटको देखकर हरकोई उन कठिनाइयोंको सहन करनेकी शिक्षा ग्रहण कर ले, जो कि उसे आशाकी रेखाके दर्शन करा दे।[2] इसमें शक नहीं कि यह गुप्तवाद एक नवीन सुखमय जीवनको प्राप्त करनेका मार्ग बतानेवाला है। अस्तु; उपरोक्त कथानकमें संसारी आत्माके मोक्षलाभ करनेका ही विवरण है। ओसिरिस शुद्धात्माका द्योतक है, जो पुद्गल (सेठ) के वशीभूत होकर अपने स्वाभाविक जीवनसे हाथ धोकर भवसागरमें (नीलमें) रुलता फिरता है। इस भवसागरमें शुद्धात्माको तपश्चरणकी कठिनाइयां सहन करनेवाले और सर्वथा ध्यान करनेवाले ऋषिगण ही पासक्ते हैं। इसलिए इसिस ऋषिगणका ही रूपान्तर है। ऋषि और भृष्ट शुद्धात्मासे ही तीसरा व्यक्ति अर्हत् (Horus=होरस) उत्पन्न होता बतलाया गया है; क्योंकि ऋषिगणके लिये अर्हत्‌पद ही एक द्वार है जो उसे शुद्ध-बुद्धबनाकर परमात्मपदमें पधरवा देता है। इसलिये ओसिरिस अन्ततः सिद्धपरमात्मा ही है! अर्हत् और होरस शब्दकी सादृश्यता भी भुलाई नहीं जासक्ती; यही बात ऋषि और इसिस शब्दमें है। ओसिरिस भी सिद्ध शब्दका रूपान्तर होसक्ता है। यसिरिस (Ysiris) रूपमें उसकी सदृशता

१-कान्फ्लूयन्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ० २४८ २-पूर्व० पृ० २४७

सिद्ध शब्दसे मिल जाती है। इस शब्दका भाव मिश्रवासियोंके निकट परमात्मा (Superme Being) से था, यह हेलानिकस नामक ग्रीक विद्वान् बतलाता है।[1] इसतरह हमारे ख्यालसे मिश्रके तीन देवता सिद्ध, साधु और अरहंत ही हैं। होरस (Horus) की जो एक मूर्ति देखनेमें आई है,[2] वह भी इस व्याख्याका समर्थन करती है। वह बिल्कुल नग्न खड्गासन है; शीशपर सर्पका फण है जैसा कि जैन तीर्थंकर पार्श्व और सुपार्श्वकी मूर्तियोंमें मिलता है; किन्तु जैनमूर्तिसे कुछ विलक्षणता है तो सिर्फ यही कि उसके दोनों हाथोंमें दो २ सर्प और एक कुत्ता व एक मेंढा है तथापि वह मगर मच्छके आसनपर खड़ी है। वैसे मूर्तिकी आकृतिसे भयंकरता प्रकट नहीं है; प्रत्युत गंभीरता और शांत ही टपक रही है। यहांपर सर्पों आदिको हाथोंमें लिये रखनेसे गुप्त-संकेत रूपमें (Hieratic Symbols) इन देवताके स्वरूपको स्पष्ट करना ही इष्ट होगा। चार सर्पोंसे भाव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यसे होसक्ता है; क्योंकि सर्पको मिश्रवासियोंने बुद्धि और स्वास्थ्यका चिन्ह माना था। इसी तरह कुत्ते और मेढेका कुछ भाव होगा। सारांशतः होरसकी मूर्ति भी जैन मूर्तिसे सदृशता रखती थी। वह मूलमें नग्न थी, जो मोक्ष प्राप्तिका मुख्य लिङ्ग है। प्राचीन और जैन मूर्तियोंकी आकृति भी मिश्रके मूल निवासियों (Negro) से मिलती हुई अनुमान की गई है।[3] किन्हींका कहना है कि एक कुटिलकेश नामक नीग्रो

१–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १४१ २–दी स्टोरी ऑफ मेन पृ० २१० ३–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १२२–१२३

जाति पहले भारतमें मौजूद थी और यह जैन मूर्तियां उन्हीं द्वारा निर्मित हुई थी।[1] किन्तु साथमें यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि २२वें और २३वें तीर्थंकरोंके शरीरका वर्ण भी जैन शास्त्रोंमें नील बतलाया गया है। मथुरासे जो प्राचीन जैन मूर्तियां आदि निकली हैं उनकी भी सदृशता मिश्र देशके ढंगसे है। खासकर उनमें जो चिन्ह थे वह मिश्रदेश जैसे ही थे।[2] मिश्रदेशमें जो क्रास (Cross) चिन्ह माना जाता है[3] वह अन्य देशोंसे भिन्न समकोणका होता था (+), यह जैनस्वस्तिकाका अपूर्णरूप है। मिश्रवासी अपनेको ज्योतिषवादके सृष्टा समझते थे और उनके निकट ज्योतिषका महत्व अधिक था,[4] यह खासियत भी जैनधर्मसे सदृशता रखती है। जैनधर्मकी द्वादशाङ्गवाणीके अंतरगत इसका विशद विवरण दिया हुआ था, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके भद्रबाहुवाले लेखमें भी है।[5] बौद्धोंके प्रख्यात् ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' में जैन तीर्थंकरों ऋषभ और महावीर वर्द्धमानको ज्योतिषज्ञानमें पारगामी होनेके कारण सर्वज्ञ लिखा है।[6] साथ ही मिश्रवासियोंका जो स्फटिक चक्र[7] (Zodiacal stone at Denderah) डेन्डेराहमें है वह जैनियोंके ढाईद्वीपके नकशेसे सदृशता रखता है। मिश्रकी प्रख्याति मेमननकी मूर्ति (Statue of Memnon) की एक विद्वान् 'महिमन' की जिनको हम महावीरजी समझते हैं, उनकी बतलाते हैं।* अतएव इन सब बातोंसे मिश्रदेशमें किसी समय

१–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १२२–१२३ २–'ओरियन्टल', अक्टूबर १८०२, पृ० २३–२४ ३–स्टोरी ऑफ मैन पृ० १७२ ४–पूर्व० पृ० १८७ ५–भद्रबाहु व श्रवणबेलगोल–इन्डियनएन्टीक्वेरी भाग ३ पृ० १५३ ६–न्यायबिन्दु अ० ३ ७–स्टोरी आफ मैन पृ० २२६. *ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १९९

जैनधर्मका अस्तित्व होना भी संभवित होजाता है। इस अवस्थामें जो हम लंकाको वहां पाते हैं वह ठीक ही है। स्वयं हिन्दू शास्त्र भी इस बातको अस्पष्टरूपमें स्वीकार करते हैं। वह पहले शंखद्वीप (मिश्र) में ब्राह्मणोंका अस्तित्व नहीं बतलाते हैं और राक्षसों एवं म्लेच्छोंको बसते लिखते हैं,[१] जो जैन ही थे, जैसे कि हम पहले बतला चुके हैं। इसके अतिरिक्त 'वृहद हेम' नामक हिन्दू शास्त्रमें, पांडवोंका शंखद्वीपमें काली तटपर आना लिखा है। वहांपर उन्हें एक त्रिनेत्रवाला मनुष्य राजसी ठाठसे उपदेश देता मिला था, जिसके चारों ओर मनुष्य और पशु बैठे हुए थे। यही उपरांत 'अमानवेश्वर' नामसे ज्ञात हुआ था।[२] यह वर्णन जैन तीर्थंकरकी विभूतिसे मिल जाता है। तीर्थंकर भगवान भूत, भविष्यत् वर्तमानको चराचर देखनेवाले रत्नत्रयकर संयुक्त सम्राटोंसे बड़ी चढ़ी विभूतिरूप समवशरणमें मनुष्यों और पशुओं और देवों, सबहीको समानरूप उपदेश देते हैं, यह प्रगट ही है। अतएव हिन्दू शास्त्र यहां परोक्षरूपमें जैनधर्मका ही उल्लेख करता प्रतीत होता है। इस तरह लङ्काका मिश्रमें होना ही उचित जंचता है।

लंकासे पातालपुर समुद्र भेदकर जाया जाता था, यह पद्मपुराणके उल्लेखसे स्पष्ट है। आजकल पातालपुर सोगडियन देश (Sogdiana) की राजधानी अश्म अथवा अक्षयना (Oxiana) का रूपान्तर बतलाया गया है।[३] परन्तु हिन्दूशास्त्रोंमें पातालपुर एक नगरके रूपमें व्यवहृत है और जैनशास्त्र इसे एक प्रदेश बतलाते हैं;

१-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १०० २-पूर्व० पृ० १७५
३-इन्डि० हिस्टॉ० कार्टर्ली भाग १ पृ० १३६

जिसकी राजधानी पुण्डरीकणी नगरी थी। हिन्दू पुराणोंमें पाताल इसी भावका द्योतक है और यह वहां 'नि-तल' के पर्यायवाची रूपमें व्यवहृत हुआ है।[१] इसलिये सोगडियनदेश ही पाताल था। श्वेतहूणोंके लिये व्यवहृत 'इफथैलिट्स' (Ephthalites) शब्दसे पातालकी उत्पत्ति हुई बतलाई गई है और इस पातालमें सारी मध्य एशियाका समावेश होता बतलाया गया है।[२] श्वेतहूण अथवा इफथैलिट्स जक्षरतसका (Jaxartes) की उपत्यकामें बसनेवाली एक बलवान जाति थी, जिसने सिकन्दर आजमके बहुत पहले भारतपर चढ़ाई की थी और वह पंजाब एवं सिंधमें बस गई थी।[३] स्कंधगुप्तके जमानेमें भी उनके वंशजोंने भारतपर आक्रमण किया था।[४] इफथैलिट्सके लिये हिन्दुओंने इलापत्र शब्द व्यवहारमें लिया था। इलापत्रका अपभ्रंश 'अला' और 'पाता' होता है, जिसको पलटकर रखनेसे पाताल शब्द बना हुआ आजकल विद्वान् बतलाते हैं।[५] सिंधमें इन्हीं लोगोंके बसनेके कारण यूनानी इतिहासवेत्ताओंने सिंध प्रदेशको पातालेन (Patalene) और उसकी राजधानीको पाताल लिखा है।[६] इस तरह समग्र पाताल अथवा रसातल पूर्वमें बृहद् पामीर (Great Pamir) पश्चिममें बेबीलोनिया, उत्तरमें कैस्पियन समुद्रके किनारेवाले देशों और जक्षरतस नदी एवं दक्षिणमें संभवतः भारत महासागरसे सीमित था।[७]

इस विवरणसे पातालपुर कैस्पियन समुद्रके पास अवस्थित प्रमाणित होता है। मिश्रसे वहांतक पहुंचनेमें कैस्पियन समुद्र

१-पूर्व प्रमाण २-पूर्व० पृ० ४५९ ३-४-पूर्व प्रमाण ५-६-पूर्व० ७-पूर्व० पृ० ४५७

बीचमें आसक्ता है, इसलिये वहांपर हनूमानका समुद्र भेदकर जाना लिखा है, वह ठीक है। उपरांत वहांपर भवनोन्माद वनमें समुद्रकी शीतल पवनका आना बतलाया है[1] वह भी इस बातका द्योतक है कि पाताल समुद्रके किनारे था, किन्तु वहांके राजा वरुण और राजधानी पुण्डरीकणीके विषयमें हम विशेष कुछ नहीं लिख सक्ते हैं। अतएव जैन पद्मपुराणके अनुसार भी पाताल वही प्रमाणित होता है जो आजकल विद्वानोंको मान्य है।

जैन 'उत्तरपुराण'से भी इसी बातका समर्थन होता है। वहां प्रद्युम्नको विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीके मेघकूट नगरमें स्थित बतलाया है। वहांसे उसे बराह बिलमें गया लिखा गया है, जहां उसने वराह जैसे देवको वश किया था। अगाड़ी वह काल नामक गुफामें गया जहां महाकाल राक्षसदेवको उसने जीता था। वहांसे चलकर दो वृक्षोंके बीचमें कीलित विद्याधरको उसने मुक्त किया था। फिर वह सहस्रवक्त्र नामके नागकुमारके भवनमें गया था और वहां शंख बजनेसे नाग–नागनी उसके सम्मुख प्रसन्न होकर आए थे। उन्होंने धनुष आदि उसे भेंट किये थे। वहांसे चलकर कैथवृक्षपर रहनेवाले देवको उसने बुलाया और उस देवने भी उसको आकाशमें लेजानेवाली दो चरणपादुकायें दीं। अगाड़ी अर्जुनवृक्षके नीचे पांच फणवाले नागपति देवसे उसने कामके पांच बाण प्राप्त किए। वहांसे चलकर वह क्षीरवनमें गया; वहांके मर्कटदेवने भी उसे भेंट दी थी। आखिर वह कंदवकमुखी बावड़ीमें पहुंचा था और वहांके देवसे नागपाश प्राप्त किया था।

१. पद्मपुराण पृ० ३१२...

फिर वह पातालमुखी बावड़ीमें पहुंचा था, वहांपर उसे नारद मिले थे और भारत लिवा ले गये थे।[1] विजयार्ध पर्वतको हम उत्तर ध्रुवमें पहले बता चुके हैं। अस्तु, वहांसे चलकर पहले वराहद्वीप अर्थात् यूरोपका आना ठीक है। बराहबिल वराहद्वीपका रूपान्तर ही है। कालगुफामें राक्षसदेव बतलाया है सो यह गुफा अफ्रीका या मिश्रदेशमें होना चाहिये; क्योंकि राक्षसोंका निवास हम वहीं पाते हैं और यूरोपके नीचे यह आता भी है। तिसपर यहांके निवासी त्रिगलोडेट्स (Triglodytes) गुफाओंमें रहते थे।[2] इस कारण इसका गुफारूपमें उल्लेख होना उचित ही था। कालगुफासे विद्याधरको मुक्त करके प्रद्युम्नका नागकुमारके भवनमें जाना लिखा है सो यहांसे उनका नागलोक अथवा पातालमें पहुंचना ही समझ पड़ता है। सहस्रवक्त्र संभवतः सू अथवा किडेट्रिस (Kiderites) जातिके लोगोंका परिचायक है, जो नागलोग या पातालके एक सिरेपर बसते थे।[3] और नाग शब्द 'ह्यिङ्ग-नु' (Hiung-nu) शब्दका बिगड़ा रूप बतलाया गया है, जो हूण लोगोंका प्राचीन नाम था। सुजातिकी भी गणना हूणोंमें है।[4] इसलिये इनका उपरोक्त प्रकार नाग बतलाना ठीक है। अगाड़ी वृक्षोंका उल्लेख है सो पातालमें काश्यपसे इनकी उत्पत्ति भी बतलाई गई है।[6] कैथ वृक्ष वाले देवसे भाव शायद कुर्द अथवा कार्डुकी[7] (Carduchi) जातिके अधिपतिसे हो जो वहां निकटमें बसती थी। इसी तरह

१. उत्तरपुराण पृ० ५४५–५४७। २. एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५६। ३. इन्डि० हिस्टॉ० क्वार्टर्ली भाग १ पृ० ४५६। ४. पूर्व० भाग २ पृ० ३६। ५. पूर्व० भाग १ पृ० ४५७–४५८। ६–पूर्व० भाग २ पृ० २४३। ७–पूर्व पृ० ३६।

अर्जुनवृक्षपरका पांच फणवाला नागपति 'अजि' (Azi)[१] जातिके राजाका द्योतक प्रतीत होता है। इसीका अपभ्रंशरूप 'अहि' है, जो नागका पर्यायवाची शब्द है। अगाड़ी क्षीरवनका जो उल्लेख है वह क्षीरसागर अर्थात् कैस्पियन समुद्रके तटवर्ती भूमिका द्योतक है। कैस्पियन समुद्रको पहले 'शिरवनका समुद्र' कहते थे, जो क्षीरवनसे सदृशता रखता है।[२] यहांका मर्कट देव मस्सगटे (Massagatae) जातिका अधिपति होना चाहिये; क्योंकि यह जाति कैस्पियन समुद्रके किनारे पूर्वकी ओर बसती थी।[३] तथापि मर्कट और मस्सगटे नाममें सदृशता भी है। साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि प्रद्युम्न पाताल लोकमें चल रहा है और कालगुफासे अगाड़ी उसका सात प्रदेशोंको लांघकर भारत पहुंचना लिखा है। अतएव यह सात प्रदेश पातालके सात भागोंका ही द्योतक है। इसलिये यहांकी बसनेवाली उक्त जातियोंके लोग ही उसे मिले होंगे। इनको देव योनिका मानना उचित नहीं है, यह पद्मपुराणके कथनसे स्पष्ट है। अस्तु, मर्कटसे मिलकर अगाड़ी प्रद्युम्न कंदबकमुखी बावड़ीमें पहुंचे थे वहांका देव नाग शायद कास्पी जातिका हो। कापोतसर (Lake Urumiah)[४] संभवतः कंदवक बावड़ी हो। यह कास्पी लोग बड़े बलवान थे। इनमें सत्तर वर्षसे अधिक वयके वृद्धोंको जंगलमें छोड़कर भूखों मारनेके नियमका उल्लेख स्ट्रेबो करता है।[५] जैनशास्त्रोंमें मनुष्यके लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंसे गुजरकर सन्यास आश्रममें पहुंचना आवश्यक बतलाया है।

१-पूर्व० पृ० ३७। २-पूर्व० पृ० २३८। ३-पूर्व० भाग १ पृ० ४६१। ४पूर्व० भाग २ पृ० २४५। ५-इन्डि० हिस्टा० क्वारटर्ली भाग २ पृ० ३३-३४।

जैनशास्त्र ऐसे उदाहरणोंसे भरे पड़े हैं जिनमें वृद्धावस्थाके आते ही लोगोंने सन्यासको धारण किया है। सन्यासमें शरीरसे ममत्व रहता ही नहीं है और अन्ततः सल्लेखना द्वारा समाधिमरण करना आवश्यक होता है। कास्पी लोगोंमें ऐसा ही रिवाज प्रचलित होगा। इसी कारण स्ट्रैबो उसका उल्लेख विकृतरूपमें कर रहा है। आजकल भी अनेक विद्वान् जैन सल्लेखनाका भाव भूखों मरना समझते हैं; किन्तु वास्तवमें उसका भाव आत्मघात करनेका नहीं है। कंदवक बावड़ीसे प्रद्युम्न पातालमुखी बावड़ीमें पहुंचे थे। इसका नाम अन्तमें लिया गया है, इसलिये संभव है कि यह रसातल अथवा रसा—तेले (Rasa-tele) होगा जो रसा अर्थात् अक्षरतस नदीकी उपत्यिका थी [1] और यहांसे भारतकी सरहद भी बहुत दूर नहीं रह जाती थी; क्योंकि अफगानिस्तान यहांसे दूर नहीं है, जो पहले भारतमें सम्मिलित और उसका उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त था। [2] इसप्रकार उत्तरपुराणके कथनसे भी पाताल अथवा नागलोकका मध्य एशियामें होना प्रमाणित होजाता है; जैसा कि आजकल विद्वान् प्रमाणित करते हैं, किन्तु इतना ध्यान रहे कि जैन दृष्टिसे यह पाताल-लोक देव योनिका पाताल नहीं है; बल्कि विद्याधरके वंशजोंका निवास स्थान है।

आजकलके विद्वान् मध्यएशियामें बसनेवाली उपरोक्त जातियोंको अनार्य समझते हैं; [3] परन्तु जैनदृष्टिसे वह अनार्य नहीं हैं; क्योंकि पहले तो वह आर्यखण्डमें वसते थे; इसलिए क्षेत्र अपेक्षा वे आर्य थे और फिर यह लोग अपनेको काश्यपका वंशज बत-

१—पूर्व० भाग १ पृ० ४५६। २—कनिंघम, ए० जाग० इन्डिया, पृ० १००—१०३ और नोट पृ० ६७२। ३—इन्डि० हिस्टॉ० क्वारटर्ली भाग २—पृ० २४०।

लाते हैं। काश्यप जैन तीर्थंकरोंका गोत्र रहा है और भगवान ऋषभदेव काश्यपसे नमि-विनमि राजा राज्याकांक्षा करके विजयार्ध पर्वतीय देशोंके अधिकारी हुये थे और वही क्रमशः इन सब प्रदेशोंमें फैल गए, यह हम पहले बतला चुके हैं। अतएव इस दृष्टिसे उनका कुल अपेक्षा भी आर्य होना सिद्ध है। जैन तीर्थंकरोंकी अपेक्षा ही कैस्पिया आदि नाम पड़ना आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।[1] स्वयं जेरूसालमके एक द्वारका नाम वहांपर जैनत्वको प्रकट करनेवाला था।[2] ओकसियाना (Oxiana), बलख और समरकन्दमें भी जैनधर्म प्रकाशमान रहचुका है। (देखो मेजर जनरल फरलांगकी शार्टस्टडीज पृ० ६७) बैबीलोनियाका 'अररत' नामक पर्वत 'अर्हत्' शब्दकी याद दिलानेवाला है।[3] अर्हन् शब्दको यूनानवासी 'अरनस' (Urnas), रूपमें उल्लेख करते थे।[4] जैनधर्म एक समय सारे एशियामें प्रचलित था, यह वहांके जरदस्त आदि धर्मोंकी जैनधर्मसे एकाग्रता बैठ जानेसे प्रकट है।[5] सुतरां आजकलके पुरातत्व अन्वेषकोंने भी इस बातको स्वीकार किया है कि किसी समयमें अवश्य ही जैनधर्म सारे एशियामें फैला हुआ था।[6] उत्तरमें साइबीरियासे दक्षिणको रासकुमारी तक और पश्चिममें कैस्पियन झीलसे लेकर पूर्वमें कमस्करकाकी खाड़ी तक एक समय जैनधमकी विजयवैजयन्ती उड्डायमान थी। तातारलोग 'श्रमण' धर्मके माननेवाले थे, यह प्रकट है। (देखो पीपलस ऑफ नेशन्स भाग १ पृ० ३४३)

१–रालिन्सन–सेन्ट्रल ऐशिया २४६ और अं० जैनगजट भाग ३ पृ० १३। २–मेजर जनरल फरलांगकी "शार्टस्टडीज" पृ० ३३। ३–स्टोरी ऑफ मैन पृ० १४३। ४–एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १५७। ५–असहमतसंगम देखो। ६–डुबाई, डिस्क्रिपशन आफ दी करैक्टर...आफ पीपुल आफ इन्डियाकी भूमिका।

और श्रमण धर्मके नामसे जैनधर्म भी परिचित है। (कल्पसूत्र पृ० ८३) इसलिये तातार लोगोंका मूलमें जैनी होना भी संभव है। तिसपर ईरान और अरब तो तीर्थ रूपमें आज भी लोगोंके मुंहसे सुनाई पड़ते हैं। श्रवणबेलगोलके श्री पंडिताचार्य महाराजका कहना था कि दक्षिण भारतके जैनी मूलमें अरबसे आकर वहां बसे थे। करीब २५०० वर्ष पूर्व वहांके राजाने उनके साथ घोर अत्याचार किया था और इसी कारण वे भारतको चले आये थे। (देखो ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ९ पृ० २८४) किन्तु पंडिताचार्यजीने इस राजाका नाम पार्श्वभट्टारक बतलाया एवं उसी द्वारा इस्लाम धर्मकी उत्पत्ति लिखी है वह ठीक नहीं है। 'ज्ञानानंद श्रावकाचार'में भी मक्कासे मस्करी द्वारा इस्लाम धर्मकी उत्पत्ति लिखी है, वह भी इतिहास बाधित है। किन्तु इन उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि एक समय अरबमें अवश्य ही जैनधर्म व्यापी होरहा था। इस तरह ईरान, अरब और अफगानिस्तानमें भी जैनधर्मका अस्तित्व था;[1] बल्कि दधिमुख द्वीपमें चारणमुनियोंका उपसर्ग निवारण स्थान तो ईरानमें ही कहींपर था, यह हम पहले देख चुके हैं। मध्यएशियाके अगाड़ी मिश्रवासियोंमें तो जातिव्यवस्था भी मौजूद थी, जो प्रायः क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और चण्डालरूपमें थी।[2] इसलिए इन लोगोंको अनार्य कहना जरा कठिन है। हां, पातालवासी उपरोक्त काश्यपवंशी जातियोंके विषयमें यह अवश्य है कि बड़े२ युगोंके अन्तरालमें और अपने मूल देश विजयार्धको छोड़कर चल निकलनेपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके प्रभाव अनुसार यह अपने प्राचीन रीतिरिवाजोंको पालन

१-राइस, मालाबर क्वार्टर्लीरिव्यू भाग ३ और इन्डियन सैक्ट आफ नोट। २-स्टोरी आफ मैन पृ० १८८।

करनेमें असमर्थ रहे हों। सारांशतः पातालमें बसनेवाले नागवंशी मूलमें आर्य थे और उन्हें जैनधर्ममें प्रतीति थी तथापि भगवान पार्श्वनाथजी पर फणका छत्र लगाकर जिस राजाने अहिच्छत्रमें उनकी विनय की थी वह भी इसी वंशका था। वह धरणेन्द्रके साथ नाम सामान्यताकी अपेक्षा ही भुला गया दिया है। धरणेन्द्रके पर्यायवाची शब्द नागपति, अहिपति, फणीन्द्र आदि रूपमें थे और यह नागवंशी राजाओंके लिये भी लागू थे; क्योंकि हम जान चुके हैं कि इन जातियोंमें की ह्युङ्ग-नु जातिसे नाग शब्दकी और अजि जातिसे अहि शब्दकी उत्पत्ति हुई थी। उरग-नागोंका[1] अधिपति जो उसे बताया है, [redacted]नकी 'ऊइगरस' (Uigurs)[2] जातिकी अपेक्षा होगा तथापि फणीन्द्र भी इन्हींमेंकी एक जाति फणिक अथवा पणिकके राजाका सूचक है।[3] पणिक या फणिक एक विदेशी जाति थी, यह एक जैन कथासे भी प्रकट है। इस कथामें फणीश्वर शहरके राजा प्रजापालके राज्यमें सेठ सागरदत्त और सेठाणी पणिकाका पुत्र पणिक बतलाया गया है। यह सेठपुत्र पणिक कदाचित् भगवान महावीरके समवशरणमें पहुंच गया और उनके उपदेशको सुनकर यह जैन मुनि होगया। अन्तः गंगाको पार करते हुये नांवपरसे यह मुक्त हुआ था।[4] यहां पर देश, सेठाणी और सेठपुत्रके नाम पणिक-वाची हैं; जो उनका सम्बन्ध पणिक जातिसे होना स्पष्ट कर देते हैं। राजा और सेठके नाम केवल पूर्तिके लिये तद्रूप रख लिये गये प्रतीत होते हैं। पणीश्वर शहर फानीशिया (Phoenecia)

१-पार्श्वाभ्युदयके टीकाकार योगिराट् यही लिखते हैं; यथा—'नागराजन्य साक्षात् नागानां राजानः उरगेन्द्राः तेषामपत्यानि नागराजन्याः।' पृ० २६५। २-इन्डि० हिस्टॉ० कार्टर्ली भाग १ पृ० ४६०। ३-पूर्व० भाग २ पृ० २३२-२३५। ४-आराधना कथाकोष भाग २ पृ० २४३

देशका रूपान्तर ही है और पणिक एवं पणिका स्पष्टतः पणिक जातिकी अपेक्षा हैं। पहले कुल और जाति अपेक्षा भी लोगोंके नाम रक्खे जाते थे, यह हम देख चुके हैं। अतएव इस कथाके पणिकमुनि पणिक जातिके ही थे, यह स्पष्ट है। इस कथासे पणिकोंका व्यापारी होना तथा भगवान महावीरस्वामीके समय विदेशसे आना भी प्रगट होता है; क्योंकि यदि वह व्यापारी न होते तो उनका सेठरूपमें लिखना वृथा था और वह यहां अपनी जाति अपेक्षा प्रख्यात हुये, यह उनका विदेशी होनेका द्योतक है। यदि वह यहींके निवासी होते तो उनकी प्रख्याति जाति अपेक्षा न होकर दीक्षित नामके रूपमें होना चाहिये थी। अस्तु; पणिक या फणिक जातिकी अपेक्षा इस जातिके राजा फणीन्द्र भी कहलाते थे और यह मनुष्योंके नागलोकमें रहते थे; इसलिये नागकुमारोंके इंद्र धरणेन्द्रका उल्लेख सदृशताके कारण फणीन्द्ररूपमें हुआ मिलता है। यहांपर यह दृष्टव्य है कि पहले विदेशी लोगोंको जैनधर्म धारण करने और मुनि होकर मुक्तिलाभ करनेका द्वार खुला हुआ था। मूलमें जैनधर्मका रूप इतना संकीर्ण नहीं था कि वह एक नियमित परिधिके मनुष्योंके लिये ही सीमित होता। अस्तु,

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथके शासनरक्षक देवता धरणेन्द्र और पद्मावती एवं उनके अनन्यभक्त अहिच्छत्रके नागवंशी राजाका विशद परिचय प्रगट है और उनका निवासस्थान पाताल कहां था, यह भी स्पष्ट होगया है। अतएव आइए, पाठकगण अब अगाड़ी भगवान पार्श्वनाथजीके शेष पवित्र जीवनके दर्शन करके अपनी आत्माका कल्याण करलें।

बा० कामताप्रसादजीकृत ग्रंथ-

भगवान् महावीर	१।।।) २)
भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध	१।।) १।।।)
संक्षिप्त जैन इतिहास	।।≡)
महारानी चेलनी	।।।=)

भगवान पार्श्वनाथ उत्तरार्द्ध छपरहा है।

मिलनेका पता—

मैनेजर,

दिगंबर जैनपुस्तकालय,

सूरत।